खण्ड 2

प्रतिरोध, संग्रहण और परिवर्तन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 गतिशीलता और परिवर्तन*

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जाति में गातिशीलता

6.2.1 गतिशीलता के स्तर

6.3 संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण

6.3.1 संस्कृतिकरण

6.3.2 पश्चिमीकरण

6.4 धर्मनिरपेक्षीकरण

6.4.1 शिक्षा

6.4.2 अनुसूचित जातियों एवं अन्य पिछडे वर्ग

6.4.3 औद्योगिकरण एवं शहरीकरण

6.5 वर्ग एवं सामाजिक गतिशीलता

6.5.1 वर्ग गतिशीलता का महत्व

6.5.2 वर्ग गतिशीलता एवं वर्ग निर्माण

6.5.3 औद्योगिकरण एवं गतिशीलता

6.5.4 शिक्षा और गतिशीलता

6.5.5 अंतर पीढ़ीगत और अंतःपीढ़ीगत गतिशीलता

6.6 सामाजिक गतिशीलता और भारत में वर्ग

6.6.1 कृषिक वर्गो में गतिशीलता

6.6.2 शहरी वर्गो में गातिशीलता

6.7 सारांश

6.8 संदर्भ

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपः

- जातिगत गतिशीलता को प्रभावित करने वाली प्रक्रिया और कारको की रूपरेखा तैयार कर सकेंगे;
- वर्ग गतिशीलता की प्रकृति और उसे प्रभावित करने वाले कारको का वर्णन कर सकेंगे; और
- भारत में वर्ग गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट कर सकेंगे।

* यह इकाई ई.एस.ओ–04, इकाई 29 से अंगीकृत है।

6.1 प्रस्तावना

सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता के विश्लेषण और अध्ययन में अग्रणी योगदान के साथ-साथ इसकी संकल्पना, प्रकार और आध्यनों को हमारे सामने रखने का प्रयत्न किया है। उन्होने समाजों के बीच अंतर किया है जिससें एक ओर 'बंद', कठोर, अचल और अगम्य समाज है वही दूसरी ओर वे समाज है जो 'खुले', लचीले, प्रवेश्य या गतिशील है। स्तरीकरण की प्रकृति का गतिशीलता की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है जैसे जाति प्रथा को अक्सर 'बंद समाज' के रूप में दर्शाया जाता है, जहॉ पर गतिशीलता के दुर्लभ, प्रतिबंधित और बहुत कम मार्ग है, जहॉ तक वर्गो का प्रश्न है, ये 'खुले समाजों' मे पाये जाते है जो उपलब्धियों के माध्यम से गतिशीलता के लिए विस्तृत अवसर प्रदान करते है। इसलिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण है कि जाति और वर्ग में गतिशीलता की प्रकृति का विस्तृत विश्लेषण किया जाए ताकि यह पता लगाया जा सके कि ये समाज सोरोकिन द्वारा वार्णित सामान्यीकरण के कितना अनुरूप है।

6.2 जाति में गतिशीलता

आम धारणा है कि जाति स्तरीकरण की एक 'बंद' व्यवस्था है परन्तु वास्तव में यह सच्चाई से बहुत दूर है। कोई भी समाज स्थैतिक या स्थिर नहीं है और यहॉ तक कि पारम्परिक संरचना में भी जहॉ पर आरोपण (बलपूर्वक लागू करना) ही किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुष्ठान और उसकी व्यवसायिक स्थिति, पुरस्कार और संसाधनों तक पहुँच का मुख्य निर्धारक था वहॉ भी नीचे और ऊपर दोनों तरफ की सामाजिक गतिशीलता समाप्त नहीं थी। जाति प्रथा में सामजिक गतिशीलता के प्रमाण जाति और व्यवसाय में बढ़ती विषमता में, जजमानी की प्रथा के लुप्त प्राय होने में, शुद्धि और प्रदूषण के प्रति सख्ती और धर्मनिरपेक्ष जीवन शैली में स्पष्ट दिखाई पड़ते है। पुराने समय में, जैसा श्रीनिवास ने दर्शाया है, गतिशीलता के दो मुख्य स्रोत थे। पहला था राजनीतिक व्यवस्था की प्रवाहिता, जिसने नई जातियों के लिए क्षत्रियों के स्तर और शक्ति प्रयोग की स्थिति को स्वीकार करना आसान कर दिया था। दूसरा कारण था सीमांत भूमि की उपलब्धता जिसको खेती के अन्तर्गत लाया जा सकता था। उर्ध्व (ऊपर की ओर) गतिशीलता के इन दो उपलब्ध मार्गो के परिणामस्वरूप प्रभावशाली जातियों जैसे रेड़डी और मराठा के नेता राजनीतिक शक्ति पर आधिकार करके क्षत्रिय प्रस्थिति पर दावा करने लगे थे।

इसी प्रकार मध्यकालीन बंगाल के पाल वंशी मूलरूप से शुद्र थे। गुजरात के पाटीदार भी मूल रूप से कृषक जाति से थे। जब किसी प्रभु जाति का नेता राजा या राज-प्रमुख बन जाता है तब वह उस जाति के अन्य लोगो के लिए यह गतिशीलता का स्रोत बन जाता है और यह उच्च जातियों की परम्परा तथा जीवन शैली को अपनाने से और अधिक दृढ़ हो जाता है।

6.2.1 गतिशीलता के स्तर

गतिशीलता व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा समूहों के स्तर पर दृष्टिगोचर होती है। शर्मा ने गतिशीलता के इन स्तरों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया है।

1) **परिवार में व्यक्तिगत गतिशीलताः** कुछ व्यक्ति चाहें वह किसी छोटी जाति के ही क्यों न हो, परिवार के अन्य सदस्यों की तुलना में एक अच्छी प्रस्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते है। यह प्रतिष्ठा किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों जैसे सत्यनिष्ठा, ईमानदारी,

शिक्षा प्राप्ति और अन्य उपलब्धियों के कारण हो सकती है। इसी प्रकार एक ऊँची जाति का व्यक्ति अपनी बुरी आदतों और बुरे कर्मों के कारण अपनी उच्च प्रस्थिति गंवा सकता है। जिसका परिणाम उस व्यक्ति की अधोमुख (नीचे की ओर) गतिशीलता हो सकता है। व्यक्ति की गतिशीलता का कारण उसकी क्षमता या क्षमताओं की कमी हो सकता है। इसलिए यह पूरी जाति की प्रतिष्ठा को प्रभावित नहीं करता है और इसकी प्रकृति बहुत कम सामूहिक होती है।

2) **एक जाति में अल्पसंख्यक परिवारों की गतिशीलताः** इस प्रकार की गतिशीलता परिवारों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं के साथ जुडी होती है। प्रस्थिति स्तर में सुधार भूमि प्राप्त करने और शिक्षा ग्रहण करने के कारण आया जिससे वे उच्च जातियों की तरह बार-बार व्यवहार करने लगे जैसे कि वस्त्र धारण करना, जीवन शैली अपनाना और उनके धार्मिक कर्मकाण्ड करना। इस तरह की गतिशीलता की प्रकृति सामुहिक/व्यापक नहीं होती है और इन्हें क्षैतिज गतिशीलता ही मानना चाहिए न कि लम्बवत गतिशीलता क्योकि यह प्रस्थिति के अंतरों को पाटती है। इस संबंध में बर्टन स्टीन ने स्पष्ट किया है कि इस तरह की प्रवृति व्यापक रूप से प्रमुखतः मध्यकाल में रही है।

3) **बड़ी संख्या में परिवारों की अथवा समूह की गतिशीलताः** इस प्रकार की गतिशीलता सामूहिक बहुल संख्या में प्रकृति की होती है। इसमें सामूहिक रूप से सांझी प्रतिष्ठा, सम्मान और प्रस्थिति निहित होती है और इसलिए इसका पवित्रता तथा अपवित्रता के संबंध मे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के द्वारा पता लगता है। कुछ जातियॉ अशुद्व तथा अपवित्र व्यवहारों को त्याग कर अपनी स्थिति में सुधार करती है। इसमें संस्कृतिकरण सबसे प्रमुख प्रक्रिया थी जो इन जातियों को सामाजिक क्रम में ऊर्ध्व अथवा उच्च श्रेणी में ले जाती है तथा उच्च गतिशीलता के दावे को वैध बनाती है।

6.3 संस्कृतिकरण एंव पश्चिमीकरण

गतिशीलता की कुछ विशेषताऍ एवं प्रक्रियाएं है। अब उनकी चर्चा करेंगे।

6.3.1 संस्कृतिकरण

एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा को जाति में गातिशीलता की प्रक्रिया के रूप में प्रतिपादित कर विस्तार से सूत्रबद्व किया है। उनके अनुसार संस्कृतिकरण एक ऐसी ''प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई नई हिन्दू जाति, आदिवासी या अन्य समूह के लोग अपने रीति-रिवाजों, संस्कार संबंधी विचारधारा तथा जीवनशैली को उच्च जाति और खासतौर पर 'द्विज जाति' की दिशा में परिवर्तित करते है'' (श्रीनिवास 1966)। संस्कृतिकरण संपूर्ण इतिहास में प्रचलित रहा है और इसने विभिन्न रूप धारण किये है। इसको धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक श्रेणी के बीच की दूरी को कम करने के लिए एक साधन के रूप में प्रयोग किया गया है। जब कोई जाति धर्मनिरपेक्षता की शक्ति प्राप्त कर लेती है तो वह ऊँची जातियों के रीति-रिवाजों, संस्कारों, विश्वासों और विचारों जैसे शाकाहार, मद्यनिषेध को अपनाकर अपनी प्रस्थिति को वैद्य ठहराने का प्रयास करती है। इसके अतिरिक्त, वे ब्राह्मण पुजारी की सेवाओं को प्राप्त करने का प्रयास करते है, तीर्थ-स्थानों का भ्रमण और धार्मिक पुस्तको का ज्ञान करने का भी प्रयास करते है।

जनगणना के ऑकड़ों को उच्च प्रस्थिति के दावों के लिए महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता था। श्रीनिवास के अनुसार अनुवर्ती जनगणना में उच्च प्रस्थिति प्राप्ति के ये दावे लिए किये जाते थे। उदाहरण के लिए यदि कोई एक जाति एक जनगणना में अपने आपको वैश्य घोषित करती थी तो यही जाति अगली जनगणना में अपने आपकों ब्राह्मण या क्षत्रिय होने का दावा प्रस्तुत करती थी। इस प्रकार के दावें के बाद वे जाति उन उच्च जातियों जैसी जीवन - शैली तथा व्यवहारों को अपनाने का प्रयत्न करती थी। उच्च स्तर की योद्वा शासक श्रेणी, जैसे, क्षत्रिय और ब्राह्मण के प्रस्थिति गुण उनको सर्वोच्च आदर्श अथवा उच्च गतिशील समूह के रूप में प्रस्तुत करते है।

इसके अलावा संस्कृतिकरण का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रूप जातियों की ओर से बढ़ते विशुद्ववाद को शामिल करता है जो द्विज जातियों की श्रेष्ठता को नकारता है जैसे पूर्वो उत्तर प्रदेश की कोरी जाति के लोग ब्राह्मणों का पानी स्वीकार नहीं करते है। इस प्रकार की वि-संस्कृतिकरण की प्रक्रिया नए वर्गो के निर्धारण मे तथा उच्च राजनीतिक गतिशीलता में योगदान करती है। पुनः संस्कृतिकरण एक दूसरी प्रक्रिया है जिससे गतिशीलता को बढ़ावा मिलता है। इस तरह के मामलों में, पहले से पश्चिमीकृत या आधुनिकीकृत सभ्यता को स्वीकारने वाले लोग भी आधुनिकीकरण के अनेक चिहनों को छोड़ देते है और परम्परागत सांस्कृतिक जीवन-शैली को अपना लेते है।

उपर्युक्त चर्चा से, यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप विशेष जातियो या उनके भागों में केवल स्थितिगत परिवर्तन होता है अर्थात् वर्गक्रम में अकेली जातियॉ नीचे या ऊपर की ओर गतिशील होती है जबकि संरचना समान बनी रहती है।

6.3.2 पश्चिमीकरण

श्रीनिवास के अनुसार,''ब्रिटिश शासन के 150 वर्षो के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में आये परिवर्तन ही पश्चिमीकरण है, इसमें विभिन्न स्तरों जैसे प्रौद्योगिकी, विचार धाराओं और संस्थानों, सिद्वांतो तथा मूल्यों में हुए परिवर्तनों को शामिल किया गया है'' (श्रीनिवास 1966) अतः पश्चिमीकरण विस्तृत, बहु-आयामी, और एक जटिल प्रक्रिया है जोकि बहुत से संस्थानों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों से टकराती है और जाति गतिशीलता पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। यह न केवल मौजूदा ढ़ॉचे से ही बदलती है बल्कि सामाजिक गतिशीलता के लिए नए क्षेत्रो और नवीन मार्गो को भी प्रस्तुत करती है। इस प्रक्रिया में बहुत सारे अंर्तबंद्व घटकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

ब्रिटिश शासन काल के दौरान, भूमि क्रय-विक्रय की वस्तु बन गयी और इसके गतिशीलता पर व्यापक परिणाम हुए। बहुत सारी छोटी जातियॉ जो भूमि खरीदने में समर्थ थी अब उच्चता की ओर गतिशील हो गयी थी और जिन लोगों ने भूमि पर अपने अधिकारों को गंवा दिया वो नीचे की ओर गतिशीलता से ग्रसित हो गये संचार के साधनों की शुरुआत ने जातिगत बंधनों और अवरोधों को कम किया है।

सोचें और करें

अपने निकट किसी शहरी गॉव के समाज का अध्ययन करें। सामाजिक अंतः क्रिया कहॉ तक पश्चिमीकरण संकल्पना के अनुरूप है? अपने निष्कर्ष लिखें तथा अध्ययन केंद्र में अन्य छात्रों से उनकी तुलना करें।

ब्रिटिश शासन काल ने सामाजिक गतिशीलता के लिए नए मार्ग प्रदान किए जिन्होने पूर्व-स्थापित संस्थाओं जैसे स्कूल व कॉलेजो की प्रकृति में परिवर्तन कर इनके दरवाजे सभी जातियों के लिए खोल दिए और सेना, नौकरशाही व विधि न्यायालयों जैसे नई संस्थाओं को स्थापित किया जो अपने सदस्यों का चयन योग्यता के आधार पर करती थी तथा इस प्रकार इसनें गतिशीलता के पर्याप्त स्रोत प्रदान किये। ब्रिटिश शासन के दौरान ज्यादातर आर्थिक अवसरों की उत्पति हुई और उनका फायदा उन उच्च जातियों ने उठाया जिन्होने शैक्षिक सुविधाओं का उपयोग किया। परन्तु ऐसा नही कह सकते है कि निम्न जातियॉ इससे प्रभावित नहीं थी, उदाहरण के लिए, बेली ने बताया कि कैसे प्रतिबंधित नीति का परिणाम गांजा और बोर्द शराब बनाने वाले लोगों की सापेक्ष समृद्वि पर पड़ा। इसी प्रकार श्रीनिवास ने पश्चिमी उतर प्रदेश के नोनियाओं और सूरत के समुद्री तट के कोलियों का उदाहरण दिया जिन्होने रेलवे, सड़क और नई नहरों के निर्माण से उत्पन्न रोजगार के अवसरों का लाभ उठाया। इसके साथ ही, पूर्वी भारत के तेली जाति के लोग तेल के लिए खुले नए-नए बाजारों और व्यापार के कारण धनी बन गए।

पश्चिमीकरण ने गतिशीलता की प्रक्रिया को एक से अधिक तरीको से गति प्रदान की है। एक ओर, यह गतिशीलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक क्रियाविधि थी तथा दूसरी ओर, इसने गतिशीलता को इसलिए भी पैदा किया क्योकि 'पाश्चात्य' होना दूसरो के लिए अनुकरण का एक 'आदर्श' बन गया था। यह बात विशेष रूप ध्यान में रखनी चाहिए कि ब्रिटिश शासनकाल के आरम्भ से पश्चिमीकरण का आरम्भ और इसके अंत के साथ इसका अंत नही हो गया। इसने गतिशीलता की प्रक्रिया को लगातार गति देने के लिए मार्ग प्रदान किया गतिशीलता को और भी तीव्र किया। इसने हमें एक ऐसी व्यवस्था दी है जो स्वतन्त्रता के बाद भी और अधिक तेजी से आगे बढ़ रही है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि स्वतंत्र भारत ने अंग्रेजों के तर्क-बुद्विपरक, समानतावादी एक मानवतावादी सिद्वांतों को समान रूप से अपनाया है। जिस कारण गतिशीलता के लिए आगे और मार्ग खुल गए।

1) **नयी विधि व्यवस्थाः** ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप देश का राजनीतिक एकीकरण एक एकल राजनीतिक व्यवस्था के रूप में हुआ जो एक समान व सजातीय कानून-व्यवस्था के प्रतिमानों के साथ तर्कवाद, मानवतावादी और समानतावादी सिद्वांतों पर आधारित था। ये कानून कभी कभी पहले के कानूनों के विपरीत होते थें। उदाहण के लिए, परम्परागत कानूनों के अंतर्गत अपराध करने वाले व्यक्ति को सजा जाति के आधार पर मिलती थी, परन्तु ब्रिटिश कानूनों ने सभी से समान रूप से व्यवहार किया। जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम और दास प्रथा का उन्मूलन निम्न जाति के उत्थान की दिशा में आगे बढ़ने का एक महान कदम था। ये कानून उच्च और निम्न जातियों के बीच की दूरी को कम करने की दिशा में विशेष प्रयास थे।

बॉक्स 6.1

स्वतन्त्रता के पश्चात सार्वभौमिकतावाद और समानतावाद के सिद्वांतों ने भारत में कानून व्यवस्था को निर्देशित किया जिसके कारण निम्न जातियों में सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला। नए दीवानी, फौजदारी एवं प्रक्रिया कानूनों ने पुराने पारंपरिक कानूनों में विद्यमान असमानता को समाप्त कर दिया। दूसरा महत्वपूर्ण योगदान नई विधि व्यवस्था का यह है कि इसमें सकारात्मक अधिकारों के प्रति चेतना जाग्रत की है। छुआछूत उन्मूलन तथा संरक्षणात्मक विभेदन नीति को अपनाकर समाज के सबसे निचले सोपान को असीम लाभ दिए गए है।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के सिद्वांत और पंचायती राज व्यवस्था को अपनाने के कारण शक्ति के वितरण में परिवर्तन आया है जिसने कमजोर वर्गो के लोगों के हाथ मजबूत किए है और ऊँची जाति के लोगों के प्रभुत्व को कम किया है। इसी प्रकार, भूमि सुधार कानूनों ने गतिशीलता को तेजी से प्रभावित किया है। हदबंदी जमीदारों की प्रस्थिति और प्रतिष्ठा के लिए आघात और उन कृषकों के लिए जिन्हें भूमि स्वामित्व के आधार मिले वरदान साबित हुई।

2) सुधारों को अपनानाः जब भी समाज में सुधार के प्रयत्न किए जाते है तो यह गतिशीलता के अवसर उत्पन्न करते है। बौद्व धर्म, जैन धर्म और बाद में सिख धर्म ने शुद्धता और अपवित्रतता से जुड़ी रूढ़िवादिता को नकारा है। उन्होने विद्यमान असमानताओं व भेदभाव के विरूद्व संघर्ष किया और संप्रदायों के अन्दर समानता के नए सिद्वांत स्थापित किए। इसी प्रकार, अंग्रेजों के शासनकाल में ईसाई मिशनरियों ने निम्नतम दलित जाति के लोगों का धर्मांतरण करा कर अछूतों को उनके जीवन की गरीबी और शोषण से दूर किया तथा उन्हें शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध करायी जिससे उन्हे रोजगार के अच्छे अवसर मिले और उनका सामाजिक स्तर बढ़ा और उन्होने वह प्रतिष्ठा प्राप्त की जो उन्होने इससे पहले कभी नहीं प्राप्त की थी।

   शिक्षित उदारवादी समाज सुधारकों जैसे राजाराम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद ने समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, बुराइयों, जैसे सती प्रथा, बाल विवाह, मानव बलि आदि, को मिटाकर समाज में सुधार लाने के अपने - अपने तरीको से प्रयास किए। उन्होने शोषण को कम करने और निम्न जातियों की प्रस्थिति को सुधारने के लिए तार्किकता और आधुनिकता के तत्वों को हिन्दू धर्म में जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने यह कार्य हिन्दू धर्म के साथ जुड़े सिद्वांतों और कर्मकाण्ड़ों को दूर करके तथा ब्राह्मणों, जिन्हें वे अन्याचारी समझते थे, के चंगुल को कम करके किया। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, ब्रहम समाज जैसे नए धार्मिक पंथ समतावादी थे तथा जातिगत अयोग्यताओं और भेदभाव के विरोधी थे। उन्होने शिक्षा और आधुनिक ज्ञान प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इस प्रकार अपने सदस्यों की प्रस्थिति को ऊँचा उठाने में सहयोग किया।

   महात्मा गॉधी तथा डॉ.भीमराव अम्बेड़कर ने अछूतों के उत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किये, जिसके परिणामस्वरूप छुआछूत का उन्मूलन तथा संरक्षणात्मक विभेदन के नियमों का निर्माण हुआ। इसने वंचित वर्गों के लोगों में व्यापक रूप से उच्च-स्तरीय सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न की।

6.4 धर्म निरपेक्षीकरण

''धर्मनिरपेक्षीकरण'' शब्द का तात्पर्य है कि जो कुछ पहले धार्मिक समझा जाता था अब वैसा नही है और इसके साथ ही, इसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, कानून और नैतिकता के विभिन्न पक्षों में परस्पर मतभेद बढ़ने से एक-दूसरे से संबंध पृथक होने का भाव भी अन्तर्निहित है। परम्परागत ढ़ॉचे में प्रस्थिति, श्रेणी, व्यवसाय और सामान्य जीवन-शैली को निर्धारित करने के लिए शुद्धता और अशुद्वता के सिद्वांत मुख्य निर्धारक थे। तर्कसंगत विचारों और शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव ने शुद्धता व अशुद्वता जैसे विचारों को कमजोर कर दिया और आज यह देखना सामान्य बात है कि विभिन्न जातियों के लोग एक-साथ कारखानों और दफ्तरों में काम कर रहे है या कंधे से कंधा मिलाकर बसों व रेलों में यात्रा कर रहे है और यहॉ तक कि होटलों आदि में एक-साथ खाना भी खा रहे है। इसके साथ-

साथ, आधुनिक समाज में वस्त्रधारण करने के ढ़ग ने भी जातिगत विभेदों को घूमिल करने मे सहायता की है। सार्वभौमिकता पर आधारित नए नियमों, सभी नागरिकों को संविधान के अनुसार समान घोषित करने और भारत के एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित होने से जातिगत विषमताओं और शोषण का उन्मूलन करने में योगदान मिला है।

6.4.1 शिक्षा

परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा पर ब्राह्मणों और 'द्विज' जातियों का एकाधिकार था। परन्तु ब्रिटिश शासन काल में शैक्षिक संस्थाओं को सबके लिए खोल दिया गया था और ज्ञान का आधार धर्मनिरपेक्ष और तर्कसंगत था। शिक्षा प्राप्ति ने व्यक्तिगत और सामूहिक गतिशीलता के लिए मार्ग खोल दिए थे। जो आधुनिक शिक्षा में प्रशिक्षित थे वे सेना और नौकरशाही में नियुक्ति प्राप्त कर सकते थे जिसने उर्ध्वमुखी (ऊपर की ओर) गतिशीलता को प्रेरणा प्रदान की। इसके अतिरिक्त, इस शिक्षा ने लोगों के दिमाग में न्याय, स्वतन्त्रता और समानता के नए सिद्वांतो को उजागर कर दिया था। शिक्षित कुलीन जाति पर आधारित अत्याचारों और शोषण के विरूद्व उठ खड़े हुए थे।

शिक्षा ने गतिशीलता की गति और उसके ढॉचे पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि इसके कारण एक नए मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ है। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के माध्यम से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए प्रयास किए गए तथा इन वर्गो के लिए शैक्षणिक संस्थानों में सीटें आरक्षित की गई। इससे इन्हें निश्चित रूप से लाभ हुआ है। इसके परिणाम स्वरूप इन वर्गो में कुछ और छोटे वर्ग उभर कर सामने आए। ये विभाजन जो शिक्षा तक पहुच होने वालों तथा पहुच न होने वालो पर आधारित गतिशीलता के तरीकों का एक पहलू है।

6.4.2 अनुसूचित जातियॉ एवं अन्य पिछड़े वर्ग

इस भाग में हम गतिशीलता के दो मुख्य तरीकों का विश्लेषण करेंगे अर्थात् संघर्ष के माध्यम से गतिशीलता और संरक्षणात्मक विभेदन के आधार पर गतिशीलता।

अनेक वर्षो तक पिछड़े वर्ग जो उत्पीड़त थे दब्बू और सेवक बने रहे, परन्तु ब्रिटिश शासन काल के दौरान इन्होंने अपनी प्रस्थिति में सुधार किया और संस्कृतिकरण के माध्यम से इसे वैध सिद्व करने का प्रयास किया। परन्तु इसी के साथ-साथ, उच्च जातियों ने भी नए अवसरों का लाभ उठा कर आगे बढ़ने का प्रयास किया। इससे उच्च और निम्न जातियों के बीच का अंतर और अधिक हो गया तथा इस अंतर को पाटने के लिए उन्होनें आर्थिक तथा राजनीतिक संसाधनो पर दावे किए। इन दलित जातियों ने महाराष्ट्र में 1870 के दशक की जाति सभाओं व ब्राह्मण विरोधी आंदोलनों के रूप में अपने आप को उच्च जातियों के विरूद्व संगठित किया और जिसका नेतृत्व कामाओं, रेडडी, नैययर आदि दक्षिणी उच्च जातियों ने किया। सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन डॉ. अम्बेड़कर के नेतृत्व में महारों ने आरम्भ किया। अन्य आंदोलनों ने ''दलित पैंथरों'' को सम्मिलित किया जिन्होने पीड़ित लोगों के सभी वर्गो को संगठित किया।

सोचें और करें 2

विभिन्न स्तर के लोगों से चर्चा करे और पता लगाए कि संरक्षात्मक विभेदन ने अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ा वर्गों की कहॉ तक मदद कि है। अपने निष्कर्षो की अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य विधार्थियों के साथ तुलना करें।

ये आंदोलन क्षैतिज गतिशीलता के उदाहरण है और इन आंदोलनों के माध्यम से लम्बवत् (ऊपर की ओर- उर्ध्वगामी) गतिशीलता का प्रयास किया गया है। प्रदीप बोस ने दो प्रमुख गतिशीलताओं की पहचान की है- संगठन के लिए आंदोलन और अधिकारों की मॉग के लिए आंदोलन। पहले वाली गतिशीलता में जाति संस्थाओं ने जनगणना और शासकों से याचिका के द्वारा अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। इन प्रयासों को वैद्य बनाने के लिए संस्कृतिकरण का सहारा लिया गया और समान जातियों से दूरी बनाये रखने को अपनाया गया। उदाहरण के लिए बिहार में कायस्थ और भूमिहर जातियों ने अपने गतिशीलता के प्रयासों में आर्थिक कष्टों और वंचन (अभाव) को प्रदर्शित किया था। इन जातियों ने इस प्रतिमान को बदलने के लिए समितियों (सभाओं) का निर्माण किया।

पिछड़े वर्गो को 'संरक्षणात्मक विभेदन' की नीतियों के आधार पर उर्ध्वगामी (ऊपर की ओर) गतिशीलता का अवसर मिला है जिसमें शैक्षिक संस्थाओं में जगहों के आरक्षण, निःशुल्क शिक्षा, और छात्रवृत्ति को प्रदान करना आदि है। इसके अलावा, इन वर्गो को सरकारी नौकरियों और वैधानिक संस्थाओं में भी आरक्षण दिया गया है। इन कल्याणकारी उपायों ने केवल एक छोटे वर्ग को ही फायदा पहुँचाया है जो अपनी सहजातियों से अधिक ऊंची प्रस्थिति का दावा करता है और इसके परिणामस्वरूप, जातियों में और आगे विभाजन प्रारम्भ हो जाता है।

6.4.3 औद्योगिकरण एवं नगरीकरण

औधोगीकरण विभिन्न तरीकों से समाजिक गतिशीलता की दर में गति लाया है। इससे लोगों को रोजगार के अवसर मिले है जो जाति के बजाय उपलब्धि और योग्यता पर जोर देते है। उद्योगों में नौकरियॉ योग्यता और अनुभव के आधार पर श्रेणीबद्व रूप से वर्गीकृत होती है न कि किसी जातिगत या धार्मिक उच्चता पर। रोजगार के ये अवसर सभी के लिए खुले थे और भूमिहीन मजदूरों के लिए उर्धगामी (ऊपर की ओर) गतिशीलता के स्रोत के रूप में प्रमाणित हुए।

औद्योगिकरण अपने साथ एक नए प्रकार का कार्य ढॉचा और कार्य संस्कृति लाया है जो श्रमिको के तकनीकी विभाजन और समान या एकरूपता के मानकों पर आधारित है। उद्योगों में विभिन्न जातियों के श्रमिक एक ही मषीन पर बिना किसी जातिगत भेदभाव के एक-साथ काम करते है जिसमें किसी प्रकार की पवित्रता और अपवित्रता का विचार नहीं किया जाता है।

बॉक्स 6.2

> अधिकतर उद्योगों की स्थापना शहरों में होती है और यह कार्य बल का शहरों में प्रवास उत्पन्न करता है जिससे शहरीकरण का विकास होता है। औद्योगिकरण के कारण शहरीकरण का निर्माण होता है जिसका सामाजिक गतिशीलता पर व्यापक प्रभाव होता है। नगरों में जीवन शैली तथा आवासीय ढ़ॉचा किसी जातीय संरचना पर आधारित नही होता है और जाति विभेद को कम करता है। महानगरीय ढ़ॉचा किसी जातीय संरचना पर आधारित नहीं होता है और जाति विभेद को कम करता है। महानगरीय ढ़ॉचा अन्तर-जातीय विवाहों के लिए भी जिम्मेदार है।

शहरों में गतिशीलता का सबसे बड़ा कारण शिक्षा के द्वारा उपलब्धियॉ प्राप्त करना और नए-नए व्यवसायिक अवसर है। एक स्तरीकरण की व्यवस्था के रूप में वर्ग ने जाति का स्थान

ले रहा है। परन्तु साथ ही, जातियों की सभाओं एवं परिसंघो के रूप में जाति-विभाजन का स्वरूप भी विद्यमान है। शहरीकरण ने लम्बवत् और क्षैतिज गतिशीलता के लिए व्यापक अवसरों का सृजन किया है। शहरों में क्षैतिज गतिशीलता जाति एवं वर्ग, दोनों तरह की विशेषताएँ रखती है। जातीय समितियों का निर्माण नम्बवत् गतिशीलता को दर्शाता है।

बोध प्रश्न।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पर सही (√) का निशान लगाइए:

1) संस्कृतिकरण का अर्थ है:

   क) संस्कृत में बोलना

   ख) संस्कृत में ज्ञान का प्रसार करना

   ग) जाति में गतिशीलता की प्रक्रिया

2) पश्चिमीकरण का अर्थ है:

   क) प्रतिभा पलायन

   ख) ब्रिटिश शासन के आधार पर परिवर्तन लाना

   ग) पश्चिमी संस्कृति को अपनाना

3) 'संरक्षणात्मक विभेदन' क्या है?

   क) कमजोर वर्गो के लिए शैक्षिक संस्थाओं, वैधानिक संस्थाओं और नौकरियों में पदों की आक्षण नीति

   ख) उच्च वर्गो के उत्थान के लिए नीति

   ग) अछूतों को दबाना और उनका शोषण करना

4) जाति में गतिशीलता सृजित करने वाले घटकों पर सही (√) का निशान लगाइए:

   क) शिक्षा

   ख) कानूनी सुधार

   ग) औधोगीकरण

   घ) शहरीकरण

6.5 वर्ग एंव सामजिक गतिशीलता

अब हम वर्ग और सामाजिक गतिशीलता के महत्व के संबंध में निम्नलिखित चर्चा करेंग।

6.5.1 वर्ग गतिशीलता का महत्व

वर्ग स्तरीकरण के बहुत महत्चपूर्ण और व्यापक आयाम है और वर्ग की रूप रेखा के आधार पर गतिशीलता का विश्लेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है ना केवल इसलिए कि यह अपने आप में अन्तिम अवस्था है बल्कि इसका महत्व इसलिए भी है कि अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं पर इसका प्रभाव है। गतिशीलता की व्यापकता का प्रयोग औधोगिक समाज के 'खुलेपन' की माप के रूप में भी किया जाता है और गतिशीलता की अत्याधिक दर उस समाज का संकेत है जो प्रदत के बजाय आर्जित उपलब्धियों को दर्शाता है। यह योग्यता आधारित व्यवस्था

है जहॉ पर व्यक्ति को सम्मान अपने व्यक्तिगत गुणों के आधार पर मिलता है ना कि उतराधिकार में मिली सम्पति और पदो ंके आधार पर।

वर्ग निर्माण को समझने के लिए वर्ग गतिशीलता एक निर्णायक कारक है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन समाज के सदस्यों के जीवन अवसरों के बारे में संकेत प्रदान कर सकता है अर्थात-जीवन अवसरों पर किसी उत्पति के वर्ग का प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा, सामाजिक स्थिरता व विस्तार के विश्लेषण के लिए उन लोगों की क्रिया एंव प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण है जो गतिशीलता के दौर से गुजर रहे है। इसके साथ ही गतिशीलता की व्यापकता का प्रयोग औद्योगिक समाज के 'खुलेपन' की माप के रूप में भी किया जाता है और उच्च गतिशीलता दर विरासत में मिली उपलब्धियों की तुलना में स्वयं के बल पर प्राप्त की गई योग्यता वाले समाज का संकेत देती है।

6.5.2 वर्ग गतिशीलता एंव वर्ग निर्माण

वर्ग गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है- वर्ग निर्माण की प्रक्रिया। अनेक विद्वानों ने इस अध्ययन क्षेत्र में अपनी विशेष रूचि दिखाई है। कार्ल मार्क्स ने एक ओर वर्ग निर्माण और कार्य के बीच संबंध तथा दूसरी ओर वर्ग स्थितियों के मध्य गतिशीलता के विस्तार पर ध्यान केन्द्रित किया था। उनका विचार था कि सर्वहाराकरण वर्ग निर्माण की प्रक्रिया के विरूद्व था। इसके साथ का विस्तार सर्वहारा वर्ग से लोगों के चयन पर आधारित था। मार्क्स ने वर्ग चेतना की उत्पति के लिए पूर्व - शर्तों के रूप में दिखाई देती है। इसी प्रकार, वेबर ने भी वर्ग निर्माण के लिए सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहचान के लिए स्थिरता को एक प्रमुख कारक के रूप मे स्वीकार करते है।

वेस्टर्डगार्ड तथा रेसलर ने भी बारम्बार कहा है कि पूँजी रखने वाले और पूंजी न रखने वाले लोगों के बीच विभाजन ने वर्ग संरचना को सम्पूर्णता के रूप में मूर्त रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होनें गतिशीलता के महत्व को मान्यता प्रदान की है और वर्ग-स्थिति, वर्ग-जागरूकता और वर्ग-संगठन के संदर्भ में लोगो की प्रतिक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में गतिशीलता की उपस्थिति एंव अनुपस्थिति के महत्व को दर्शाया है। वेस्टर्डगार्ड और रेसलर की तरह से ही गिड्डेंस ने भी गतिशीलता को वर्ग निर्माण की महत्वपूर्ण व केन्द्रीय प्रक्रिया के रूप में दिखाया है। परन्तु गिड्डेंस के अनुसार इसका महत्व न केवल वर्ग चेतना के विकास एंव 'अपने लिए वर्ग' के रूप में संगठन से है, अपितु अतीत में स्वीकार्य सामाजिक प्रघटना अर्थात् 'स्वयं में वर्ग' के रूप में भी है। गिड्डेंस का मत है कि गतिशीलता पर जितनी अधिक पाबन्दियॉ होगी अर्थात् जितनी अधिक स्थिरता होगी उतना ही जीवन अवसरों, संबद्वता और वर्ग एकता के पुनरूत्पादन के संदर्भ में विशिष्ट अभिज्ञेय वर्गो के निर्माण के अवसर आधिक होते है। इसी तरह से निरन्तर प्रवाह और उच्च गतिशीलता दर वाले समाज में वर्गो का अंतर अस्पष्ट हो जाता है। गतिशीलता वर्ग 'संरचनाकरण' की मूल स्रोत है अर्थात् यह गतिशीलता की दर और उसका ढ़ंग है जो एक जैसी स्थिति रखने वाले व्यक्तियों या परिवारों की सामूहिकता के रूप में वर्गो की पहचान की सीमा का निर्धारण करता है। दूसरा, गतिशीलता की सीमा को वर्ग कार्य के प्रचलित स्वरूप के महत्वपूर्ण सूचक के रूप में लिया जा सकता है।

पार्किन का मानना है कि वर्ग संघर्ष सुविधाभोगी समूहों द्वारा अलग रहने की रणनीति को ग्रहण में महत्वपूर्ण घटक है। गतिशीलता की दर और उसका ढ़ग बहिष्कार की प्रभावशीलता और एकजुटता के लिए संभावित सफलता को उजागर करने का कार्य करता है।

6.5.3 औद्योगिकरण एवं गतिशीलता

गतिशीलता की प्रक्रिया और इसके ढ़गों के विश्लेषण में वर्ग शब्द को मार्क्स या वेबर के अनुरूप नहीं किया गया है। बल्कि वर्ग को व्यवसायिक समूहों के रूप में देखा गया है क्योकि व्यवसाय किसी व्यक्ति की पात्रता, शिक्षा और योग्यता का एक पक्ष है, जिससे किसी के स्तर, सम्मान व वेतन का निर्धारण होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के उपभोग के ढ़ग और जीवन अवसर प्रभावित होते है।

औद्योगिकरण ने ना केवल आर्थिक क्षेत्र में ही अपितु समाज के सभी क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन किए है। औद्योगिक समाजों को 'खुले' समाजों के रूप में प्रस्तुत किया जाता जहॉ पर गतिशीलता के लिए अन्यधिक अवसर उपलब्ध होते है। औद्योगिक समाजों में उच्च गतिशीलता दर को तीव्र आर्थिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है जो उपलब्ध प्रतिभाओं के अधिकतम व प्रभावी प्रयोग के लिए व्यवसायिक, भौगोलिक एवं समाजिक गतिशीलता को अनिवार्य बना देता है। इसी आधार पर लिपसेट तथा जेट्टबर्ग का मानता है कि उद्योगवाद एकसमान गतिशीलता प्रतिमानों (ढंगों) को उत्पन्न करता है। डंकन और ब्लाड भी औद्योगिकरण के द्वारा सृजित अनेक कारको पर जोर देते है जिनका गतिशीलता प्रतिमानों पर प्रभाव पड़ता है। इनका विचार है कि औद्योगिकरण बढ़ते हुए तर्कवाद के साथ जुड़ा है जो श्रम के व्यवसायिक विभाजन के चयन और उन्नति के सार्वभौमिक मानदण्डों, तथा रिश्तेदारी और पड़ोस के संबंधों को कमजोर करने के लिए जिम्मेदार है।

औद्योगिकरण में चयन की शर्त के रूप में उपलब्धि पर विशेष बल देने के कारण उर्ध्वमुखी (उपर की ओर) अद्योमुखी (नीचे की ओर) दोनों तरह की गतिशीलता उत्पन्न होती है। यह तो स्पष्ट है कि उर्ध्वमुखी गतिशीलता किसी व्यक्ति की योग्यता - क्षमता का परिणाम होती हैं जबकि अद्योमुखी गतिशीलता कुलीनों के वंशानुगत पदों में कमी आने से संबंध रखती है।

औद्योगिकरण व्यवसायिक प्रतिमानों (ढंगों) पर प्रभाव डालता है। प्रत्येक औद्योगीकृत या उद्योगशील समाज में अनुपातिक रूप से पेशेवर, शासकीय, प्रबंधकीय और सफेदपोश पदों में वृद्वि हो रही है तथा अकुशल श्रमिक कार्यो में अपेक्षाकृत कमी हो रही है जिसने उर्ध्वमुखी गतिशीलता की लहर पैदा कर दी है। किसी भी उद्योग के संचालन, प्रशासन एवं उत्पादित वस्तुओं के वितरण और सेवाऍ प्रदान करने के लिए अधिक से अधिक लोगों की आवश्यकता होती है।

6.5.4 शिक्षा एंव गतिशीलता

किसी की योग्यता के निर्धारक के रूप में उपलब्धि और योग्यता को प्रोत्साहन का परिणाम, इनको प्राप्त करने के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण पर जोर देना होता है। शिक्षा विशेषतः औद्योगिक समाजों में गतिशीलता को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाती है। बढ़ती हुई विशेषज्ञता तथा श्रम विभाजन में वृद्धि, योग्यता प्राप्त ऐसे कर्मचारियों, जो विशिष्ट कार्यो के संचालन में सक्षम हो, की विद्यमानता की पूर्व-शर्त होती है। ये विशेषज्ञ, चाहे उद्योग या औषधि के क्षेत्र में हो, ज्ञान की विशिष्ट शाखाओं में शिक्षित एवं प्रशिक्षित होते है। औद्योगिक समाज में, इस तरह की शैक्षणिक एवं प्रशिक्षण सुविधाऍ सबके लिए खुली होती है। पारम्परिक समाजों में, इस प्रकार की सुविधाऍ श्रमिकनिकायों (उद्योगों) में कुछ ही लोगों को मिलती थी जिससे सामाजिक गतिशीलता बाधित होती थी। शिक्षा उर्ध्वगामी गतिशीलता प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण मार्ग रही है। शिक्षा प्राप्त करना रोजगार गतिशीलता के

लिए एक प्रमुख निर्धारक माना जाता है तथा यह अन्तर-पीढ़ीगत व अन्तरा-पीढ़ीगत गतिशीलता पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ता है, जिस पर हम आगे के भाग में चर्चा करेगे।

6.5.5 अन्तर पीढ़िगत एवं अन्तःपीढ़ीगत गतिशीलता

यह (अन्तर -पीढ़ीगत गतिशीलता) किसी व्यक्ति के पैतृक वर्ग की तुलना में उसकी गतिशीलता या संचरण (उर्ध्वगामी या अद्योगामी) को प्रदर्शित करती है। यदि किसी पर्यवेक्षक का पुत्र या पुत्री अकुशल श्रमिक बन जाता है तो इसे 'अधोगामी' (नीचे की ओर) गतिशीलता कहेगे और यदि उसी व्यक्ति का पुत्र या पुत्री प्रबंधक बन जाते है। तो ऐसी स्थिति को हम 'उर्ध्वगामी' (उपर की ओर) गतिशीलता कहेगे।

अन्तर पीढ़ीगत गतिशीलता पर हुए प्रारम्भिक प्रमुख अध्ययनों में से एक अध्ययन 1949 में इंगलैड़ तथा वेल्स में डेविड ग्लास किया गया था। इस अध्ययन में पाया गया कि अन्तर-पीढ़ीगत गतिशीलता बहुत अधिक थी और साक्षात्कार किए गये लोगों में से लगभग दो-तिहाई लोग अपने पिता की व्यवसायिक श्रेणी से भिन्न श्रेणियों में थे। अधिकतर गतिशीलता छोटे दायरे में थी अर्थात् लोग उन श्रेणियों में पाये गये जो उनके पिता कि श्रेणी के आस-पास थी। अधोगामी (नीचे की ओर) गतिशीलता की तुलना में उर्ध्वगामी (ऊपर की ओर) गतिशीलता अधिक प्रचलित पाई गयी और अधिकतर वर्ग संरचना के मध्य स्तर में केन्द्रित थी।

इसके बाद, दूसरा महत्वपूर्ण अध्ययन पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में किया गया। अध्ययन में पाया गया कि सभी पश्चिमी औधोगिक समाजो में लगभग 30% गतिशीलता वर्ग से बाहर हुई थी और ज्यादातर गतिशीलता लघु दायरे में थी। उन्होनें पाया कि अन्तर -पीढ़ीगत गतिशीलता व्यक्तियों की व्यवसायिक और सामाजिक नियुक्ति पर पारिवारिक पृष्ठभूमि के प्रभाव से जुड़ी है। शैक्षिक योग्यता गतिशीलता के प्रतिमानों (तरीकों) पर प्रभाव डालती है। जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त थे वे लोग गैर-शारीरिक व्यवसायों में पाये गये। इसके साथ ही, वैसी ही योग्यता वाले कुछ शारीरिक श्रमिक हाथ के दूसरे कार्यो में लग गये जबकि कुछ लोग पहले गैर-शारीरिक श्रमिकों को शारीरिक श्रम वाले व्यवसायों में प्रवेश करना पड़ा। केवल कॉलेज स्तर की शिक्षा ही शारीरिक श्रम से गैर-शारीरिक कामों में प्रवेश दिलाने में सहायक सिद्व हुई। लिपसेट तथा बेनडिक्स का मानना है कि गरीबी शिक्षा की कमी एवं अवसरों तक पहुंच की कमी कुछ अन्य कारक है जो गतिशीलता को प्रभावित करते है।

इसके बाद हॉजर तथा हॉट ने अपने अध्ययनों में सिद्व किया है कि कम दूरी की गतिशीलता लम्बी दूरी की गतिशीलता से अधिक है और इस गतिशीलता के पाये जाने की अधिक संभावना सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम के, शीर्ष की तुलना में, मध्य में होती है। अन्तः पीढ़ीगत गतिशीलता उसे कहते है जिसमें कोई व्यक्ति अपने व्यवसाय के दौरान अपनी सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन कर लेता है। उदाहरण के लिए, एक लिपिक अपने सेवा काल के दौरान प्रबंधक का पद प्राप्त कर लेता है। यह पाया जाता है कि सेवाकालीन गतिशीलता सामान्यतः अन्तर-पीढ़ीगत गतिशीलता से कम है, तथा इसकी मात्रा प्रथम कार्य (पेशे) पर निर्भर करती है। सेवा कालीन गातिशीलता आयु के साथ घटती रहती है और यह देखा गया है कि व्यक्ति की 35 वर्ष की आयु के बाद इसमें कमी आ जाती है। यद्यपि ऐसा कोई नियम नही है, फिर भी सेवाकालीन गतिशीलता सामान्यतः उर्ध्वगामी (उपर की ओर) होती है। यह भी पाया गया है कि अन्तः पीढ़ीगत गतिशीलता का शैक्षिक योग्यता से संबंध होता है और जितनी अधिक विशिष्ट शैक्षणिक योग्यता एवं प्रशिक्षण होगा, उतने ही गतिशीलता के

अवसर कम होगे। लिपसेट एवं बेनडिक्स के अनुसार स्व-रोजगार शारीरिक कामगारों में उच्च स्थितियों एवं गतिशीलता प्राप्त करने के साधनों में से एक है।

6.6 सामाजिक गतिशीलता एंव भारत में वर्ग

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि भारत में वर्गो का निर्माण अंग्रेजो के शासन द्वारा प्रेरित सामाजिक गातिशीलता का परिणाम है। यह कथन सत्यता से बहुत दूर है क्योकि भारत मे वर्ग या श्रेणियॉ अंग्रेजों के शासन से पूर्व भी मौजूद थी। फिर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि पारम्परिक संरचना में जाति प्रथा स्तरीकरण की व्यवस्था में अधिक प्रबल थी। वर्तमान संरचना में वर्ग और जातियॉ एक-साथ गतिशील व्यवस्था के रूप में नजर आते है तथा एक जटिल और बहुआयामी अनुभव-सिद्व वास्तविकता के निर्माण के लिए एक दूसरे पर प्रभाव डालते है यह केवल विश्लेषण के उद्देश्य से है कि निम्नलिखित विभिन्न वर्गो के स्तरों की पहचान की जा रही है।

6.6.1 कृषिक वर्गो मे सामाजिक गतिशीलता

पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में भूमि खरीदी या बेची नहीं जाती थी और यह प्रतिष्ठा का बड़ा स्रोत थी। परन्तु अंग्रेजों के शासनकाल में भूमि को एक क्रय विक्रय की वस्तु में देखा गया। और अब इसे बेचा व खरीदा जाने लगा था। इसके कृषिक संबंधो की प्रकृति तथा सामाजिक गतिशीलता पर गंभीर प्रभाव पडे थे।

सन 1950 में शुरू हुए भूमि सुधारों का उद्देश्य बिचौलियों, जैसे कि जमींदार को समाप्त करना तथा भूमि काश्तकारों को देना था जिसने लम्बवत् गतिशीलता - उर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों तरह की गतिशीलता को पैदा कर दिया था। इस कारण कुछ काश्तकारों ने फालतू भूमि खरीद ली जिसके परिणामस्वरूप वे उर्ध्वगामी रूप से गातिशील हो गये, वहीं कुछ का अपने आप को कृषक होने का दावा करने के कारण जमींदारों द्वारा उन्हें बेदखल कर दिया गया। इसके कारण से भूमिहीन श्रमिकों का दरिद्रीकरण हो गया। दूसरी ओर भूमि सुधार जमीदारों के लिए अधोगामी गतिशीलता के स्रोत बन गये थे। वे काश्तकारों से भूमि कर तथा फसल का हिस्सा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित हो गए थे जो उनके धन-सम्पति का एक स्रोत था। उपके पास केवल सीमित भूमि रह गई जिससे वे अपने सामंती जीवन शैली बिताने में असमर्थ हो गये थे। इसके साथ ही पंचायती राज व्यवस्था और सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार जैसे अधिनियमों के पारित होने से वे अपने कम होते प्रभाव और शक्ति के कारण असहज महसूस महसूस कर रहे थे।

1960 के दशक में सरकार द्वारा आरम्भ किये गये हरित क्रान्ति कार्यक्रम ने भी गॉवो में असमानता के ठॉचे को परिवर्तित कर दिया था। इस कार्यक्रम का मुख्य जोर अधिक पैदावार वाले बीजों की प्रजातियों और उर्वरकों के प्रयोग पर था जिससे उत्पादन को बढ़ाया जा सके। परन्तु इन बीजों और उर्वरकों को भी दूसरी आधारभूत ढॉचागत सुविधाओं की आवश्यकता थी जैसे निरन्तर जल आपूर्ति के लिए नलकूप आदि। अन्य आवश्यकताओं के साथ-साथ छोटे किसान इन आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ नही थे। इस तरह हरित क्रान्ति कार्यक्रम से गॉवो में एक नया वर्ग उभर कर सामने आया जिसे 'प्रगतिशील किसान' का नाम दिया गया। उनके पास बड़ी भूमि का स्वामित्व था और टैक्टर, पम्प सेट, पॉवर थ्रेशर्स आदि संसाधनों में निवेश कर सकते थे। ये प्रगतिशील किसान व्यवसायी की तरह है जो अपनी भूमि में अधिक से अधिक धन लगाकर अत्यधिक लाभ कमाने में समर्थ थे। वे

एक अलग वर्ग बन गये थे जो छोटे किसानों और कृषि श्रमिकों, जिन्हें वे अपनी भूमि पर काम के लिए रखते थे, से अलग था। इस तरह, हम देखते है कि हरित क्रान्ति ने सामाजिक असमानता को और दृढ़ कर दिया।

श्रमिकों के दरिद्रीकरण के मूल्य पर अमीर जमींदारो की बढ़ती समृद्धि ने कृषक संरचना में विवादों और संघर्षों को पैदा कर दिया था। अखिल भारतीय स्तर पर कृषक वर्गो की राजनीतिक गतिशीलता स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान पनप गई थी। यह आज भी निरंतर चल रही है यद्यपि गतिशीलता की वृद्धि और तीव्रता क्षेत्रों, वर्गो और समयानुसार परिवर्तित होती रहती है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि कृषक वर्गों की प्रकृति एंव उनकी गतिशीलता पर अनेक प्रक्रियाओं का प्रभाव पड़ा है। वे नई जातियों की उत्पति के साथ - साथ मौजूदा व्यवस्था में उर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों तरह की गतिशीलता के साधन और व्यवस्था के रूप में प्रयुक्त हुए है।

6.6.2 शहरी वर्गों में सामाजिक गतिशीलता

भारतीय समाज के लिए शहरीकरण कोई नई प्रघटना नहीं है। अंग्रेजों के आने से पहले के समय में भी, यहॉ अनेक शहर थे जो प्रतिष्ठा और प्रशासन के प्रतिमानों के आधार पर भिन्न थे। औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप, शहरो की ओर लोगों का आना अत्यधिक एवं तीव्र हो गया है। इसने समग्र सामाजिक वर्गो की प्रकृति को प्रभावित किया है। शहरी संरचना में हम चार प्रमुख वर्गों की पहचान कर सकते है। ये चार वर्ग निम्नलिखित हैः

1) **पूँजीपति/बूर्जुआ वर्गः** भारत में अंग्रेजों ने आधुनिक औद्योगिकरण की स्थापना की। उधोग, मुक्त व्यापार ओर नए बाजारों की स्थापना ने व्यापार और व्यवसाय को नई प्रेरणा दी। व्यापारी धनी बन गए और उद्योगों की स्थापना की। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आज भी बड़ी संख्या में उद्योगपति व्यापारिक जातियों और समुदायों से है जैसे राजस्थान के मारवाड़ी, गुजराती बनिया, पश्चिम में जैन और दक्षिण में चेतियार है। व्यापारी वर्ग सबसे पहले पूँजीपति बना। इसके साथ ही कुछ कारीगर तथा शिल्पकार जिन्होने नए आर्थिक अवसरोंका लाभ उठाया और लघु उद्योगों की स्थापना की। लिंच ने अपने अध्ययन में पाया कि आगरा के जाटव जूते बनाने वाले उद्योगपति बन गए है। कुछभूमिपति जातियॉ जैसे गुजरात के पाटीदारों, आंध्र प्रदेश के नायडुओं और रेड्डियों ने भी उद्योग स्थापित किए। स्वतंत्रता के पश्चात् उद्योगों ने असीमितविस्तार किया है तथा लोहे व स्टील, कपड़ा, आटो मोबाइल, इलेक्ट्रानिक्स से लेकर हवाई जहाज बनाने के कारखानों तक सभी क्षेत्रों में विकास किया है। इस तरह, उद्योगपतियों का वर्ग आर्थिक और सांख्यिकी रूप से सशक्त हो गया।

2) **उद्यमी-** व्यापारी और दुकानदारः शहरी समाज हमेशा से ही उद्यमियों से बना है जिसमें व्यापारी और दुकानदार शामिल हैं। ये वर्ग शहरों में नई वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग से फले फूले है और इन शहरों में नई वस्तुओं एवं सेवाओं की मॉग पूरी करके धन कमाते है। इस वर्ग में रेस्टोरेंट, मैरिज ब्यूरो व वीडियो लाइब्रेरी चलाने वाले तथा दूसरे जैसे प्रॉपर्टी डीलर, पंसारी, लाण्ड्री, ड्राईक्लीनर्स व सब्जी बेचने वाले व्यवसायी शामिल है जो इन वस्तुओं की आपूर्ति एवं सेवाएँ उपलब्ध कराने वालों और उपभोक्ता के बीच एक सीधी कड़ी (संबध) स्थापित करते है। अनेक व्यक्ति नगरों तथा शहरों में इस व्यवसायिक संरचना को अपनाकर समृद्व हो गए है जबकि इसके विपरीत कुछ लोगों

ने अपने पुश्तैनी धंधों और कलाओ को विविधतापूर्ण और अधिक विस्तारित किया है जैसे धोबियों ने ड्राईक्लीनर्स की दुकाने खोल ली है और नाईयों ने ब्यटीपार्लर शुरू कर दिये है। इसके अलावा दूसरे लोगों ने एकदम नए व्यवसायों, उपभोक्ता स्थायी वस्तुएँ बेचना और यात्रा संबंधी (Travel) कम्पनियों आदि को स्थापित किया है।

3) **व्यवसायिक वर्गः** स्वतंत्रता पश्चात् और ब्रिटिश शासन के तहत शुरू किए गये परिवर्तनों के कारण इस वर्ग ने अपनी प्रकृति और स्वरूप को व्यापकता से बदला है। भारत में ब्रिटिश सरकार को विभिन्न उद्देश्यों के लिए बड़ी संख्या में व्यवसायियों की आवश्यकता थी। उन्होने सोचा कि इस कार्य को पूरा करने के लिए भारतीयों को शिक्षित व प्रशिक्षित करना सस्ता है। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने बड़ी संख्या में शैक्षिक संस्थाओं को स्थापित किया ताकि व्यवसायियों को प्रशिक्षित किया जा सके। इस वर्ग में डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रबंधक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद आदि शामिल थे। तृतीयक श्रेणी के उद्योगो (सेवा प्रदान करने वाले) के विकास के साथ इस वर्ग ने संख्या और प्रतिष्ठा दोनो में विस्तार प्राप्त किया है। यद्यपि यह एक अत्यधिक विजीतीय वर्ग है जिसमें एक क्लर्क से लेकर सी.ए.व बाबुओं से लेकर प्रशासकों तक सभी शामिल है। इसके बावजूद एक बात सबमें समान है कि उन्होने जो प्रस्थिति प्राप्त की है वो योग्यता के द्वारा प्राप्त की है और यह पदो के अनुकूल होती है। इस वर्ग के सभी सदस्यों ने अपनी शिक्षा और प्रशिक्षण के बल पर अपनी प्रस्थिति पदों को प्राप्त किया है। इस वर्ग की एक और सामान्य विशेषता यह है कि ये लोग अधिकतर सरकारी संगठनों तथा निजी क्षेत्र में काम करने वाले वेतन भोगी कर्मचारी है। ना तो ये लोग प्रत्यक्ष शासक है। और ना ही उद्योगपतियों या कृषको की तरह आर्थिक उत्पादक है।

4) **श्रमिक वर्गः** अध्ययनों से पता चलता है कि पहले श्रमिक वर्ग में उन लोगो को शमिल किया जाता था जो गरीब कृषि मजदूर थे। वे भूमिहीन अथवा दरिद्र किसान ये जिन्होने अपनी भूमि को गिरवी रख दिया था। कुछ किसान थौड़े समय के लिए 'लक्ष्य श्रमिक' (Target Workers) के रूप में श्रमिक बल में शामिल हो गए ताकि कुछ धन कमा कर अपनी गिरवी रखी हुई भूमि को फिर से प्राप्त कर लिया जायें। कुछ लोग खेती-बाड़ी में सुस्ती के काल के दौरान कार्य की तलाश में मौसमी (अस्थायी) श्रमिकों की तरह जुड़ गए। इस तरह के श्रमिक फैक्ट्रियों, कपड़े की (Textile) मिलों, बागवानी तथा औपचारिक क्षेत्रों में काम करते है उन सबकी विशेषता यह है कि गंदी बस्तियों में दयनीय परिस्थितियों में रहते है।

हाल के दशकों में उद्योगों के विकास के साथ, देश के प्रत्येक भाग में विभिन्न औद्योगिक इकाईयों में श्रमिक वर्ग में वृद्धि और विविधता आयी है। उन्होने अपने आप को यूनियमों के रूप में संगठित कर लिया है ताकि नियोक्ताओं के साथ अच्छी सौदेबाजी वाली स्थिति में आ सके/ये व्यापार संघ (Trade unions) राजनीतिक जुडाव रखते है ताकि वे अपने शाक्तिशाली नेताओं के माध्यम से अपनी मॉगो को पूरा कराने के लिए नियोक्ताओं और सरकार पर दबाव डाल सके। इनके संघ (Unions) श्रमिको और प्रबंधकों के बीच बिचौलियों का काम करती है जो इनकी शक्ति और प्रतिष्ठा को बनाये रखती है। श्रमिकों के पास अन्तः तथा अन्तर-पीढ़ीगत गतिशीलता दोनों ही तरह की गतिशीलता के प्रावधान मौजूद होते है। वे उन औद्योगिक इकाईयों को जहॉ वे काम करते है। वेतन संरचना और कार्यो की परिस्थितियों के आधार पर

बदल सकते है। लम्बवत गतिशीलता के अतिरिक्त श्रमिक श्रमिक संघो (यूनियनों), क्लबों, एसोसिएषनों आदि के सन्दर्भ में क्षैतिज गतिशीलता को भी दर्शाते है।

बोध प्रश्न।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पर सही (√) का निशान लगाइए:

1) अन्तर-पीढ़ीगत गतिशीलता का अर्थ है:

   क) व्यक्ति के जीवन कार्यकाल के दौरान गतिशीलता

   ख) प्रवसन के कारण गतिशीलता

   ग) गतिशीलता का बदलाव (उर्ध्वगामी या अद्योगामी) अपने माता-पिता की तुलना में।

2) भारत में कृषक क्षेत्र में गतिशीलता के लिए उतरदायी कारक है:

   क) भूमि सुधार

   ख) हरित क्रान्ति कार्यक्रम

   ग) सफेद पेशे

   घ) उपर्युक्त (क) तथा (ख) दोनों

3) भारतीय शहरों में निम्नलिखित प्रमुख चार वर्ग पाए जाते है:

   क) बूर्जुआ, उद्यमी, किसान तथा

   ख) बूर्जुआ, उद्यमी, व्यवसायिक तथा जमींदार

   ग) बूर्जुआ, उद्यमी, व्यवसायिक तथा श्रमिक वर्ग

6.7 सारांश

सामाजिक गतिशीलता पर हुई उपर्युक्त चर्चा से यह पता चलता है कि यहॉ तक की स्तरीकरण की तथाकथित 'बंद' व्यवस्था में भी उपलब्ध साधनों के माध्यम से सदस्य अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए निरन्तर प्रयास करते रहते है। जैसा कि हमने देखा भारत में, सामाजिक गतिशीलता में सम्मिलित कुछ रचना तंत्र और प्रगतियॉ संस्कृति विशिष्ट से संबंधित थी जैसा कि संस्कृतिकरण के मामलें है। शिक्षा, नगरीकरण और औद्योगिकरण द्वारा प्रदान किए गए गतिशीलता के अवसर पदानुक्रम में लाभप्रद पारियों के लिए जल्दी से संयुक्त हो गये थे। औद्योगिकरण नगरीकरण ने शिक्षा के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों और कौशल की भूमिका पर जोर देकर जाति तथा वर्ग समाजों में गतिशीलता उत्पन्न करने में अहम भूमिका निभाई है। इन जुडवा प्रक्रियाओं ने लम्बवत् और क्षैतिज गतिशीलता के लिए व्यापक अवसर प्रदान किये है।

भारत में जातिगत गतिशीलता और वर्ग पदानुक्रम एक-दूसरे में सम्मिलि और जुडे हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप स्तरीकरण का जटिल और बहु-आयामी ढ़ॉचा उभर कर आया है जिसमें स्तरीकरण तथा गतिशीलता कहीं पर मिले-जुले हो भी सकते है या नहीं भी हो सकते है।

6.8 संदर्भ

Gupta D. (Ed.) (1992). *Social Stratification* Delhi: Oxford University Press. Unit IV.

Sharma, K.L. (1997). *Social Stratification in India' Issues* and Themes, New Delhi: Sage Publications.

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1) ग

2) ख

3) क

4) क, ख, ग, तथा घ

बोध प्रश्न 2

1) ग

2) घ

3) ग

शब्दावली

संस्कृतिकरणः यह जाति में सामाजक गतिशीलता की प्रक्रिया है जिसमें निम्न जाति के लोग उच्च जातियों मुख्यतः ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की तरह अपने रीति-रिवाजों, जीवन-शैली, धार्मिक संस्कारों तथा विचारधारा में परिवर्तन करते है। इसमें अनुकरण की भावना प्रमुख रूप से शामिल है।

पश्चिमीकरणः यह शब्द उन परिवर्तनों को परिभाषित या वार्णित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है जोकि भारत में ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप हुए है। ये परिवर्तन वो है जो प्रौद्योगिकी, संस्थानों, विचारधारा इत्यादि के स्तर पर हुए है। पश्चिमीकरण ने व्यक्तिगत तथा जातिगत स्तर पर गतिशीलता के लिए नए मार्ग खोले है।

क्षैतिज गतिशीलताः यह एक समाज में पद/स्थिति में परिवर्तन को दर्शाती है जो कि विभिन्न स्तरों या श्रेणियों को सम्मिलित नहीं करता है अर्थात् समान स्तर पर परिवर्तन को दर्शाती है।

अतः पीढ़ीगत गतिशीलताः ऐसी गतिशीलता जो एक व्यक्ति अपने ही जीवन काल में अनुभव करता है।

अन्तर-पीढ़ीगत गतिशीलताः यह गतिशीलता दो या आधिक पीढ़ियों के बीच होने वाले परिवर्तनों को दर्शाती है।

इकाई 7 नृजातीय आंदोलन*

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 नृजातियता की 'अवधारणा'

7.3 नृजातीय पहचान

7.4 नृजातीय पहचान और दावों के स्वरूप

- 7.4.1 भाषाई नृजातियता
- 7.4.2 संप्रदायवाद
- 7.4.3 जनजातीय आंदोलन
- 7.4.4 नृजाति-राष्ट्रवाद
- 7.4.5 क्षेत्रवाद
- 7.4.6 जातिवाद

7.5 भारत में नृजातीय उन्नति के लिए उत्तरदायी कारक

7.6 नृजातीय आंदोलन के लिए सैद्धांतिक दृष्टिकोण

- 7.6.1 प्रारम्भिक दृष्टिकोण
- 7.6.2 उपकरणात्मक दृष्ट्रिकोण
- 7.6.3 आधुनिकीकरण दृष्ट्रिकोण
- 7.6.4 सामाजिक निर्माणवाद दृष्ट्रिकोण

7.7 भारत में प्रमुख नृजातीय आन्दोलन

- 7.7.1 पंजाब में नृजातीय आन्दोलन
- 7.7.2 उत्तर-पूर्व में नृजातीय आन्दोलन
- 7.7.3 गोरखालैंड में नृजातीय आन्दोलन
- 7.7.4 द्रविड़ आंदोलन
- 7.7.5 असम में नृजातीय आन्दोलन

7.8 सारांश

7.9 संदर्भ

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के पश्चात् आपके लिए संभव होगाः

- भारत में नृजातीयता के अर्थ को समझना
- नृजातीय आन्दोलन से संबद्व (जुडे हुए) मुद्दों व समस्याओं की पहचान करना
- नृजातीय आन्दोलन के दृष्टिकोणों को जानना

* यह इकाई मानस नंदा द्वारा लिखित है।

7.1 प्रस्तावना

भारत एक बहु नृजातीय, बहु-धार्मिक, बहु-सांस्कृतिक और बहु-भाषाई देश है जहॉ पर राष्ट्रीय एकता को प्राथमिकता दी जाती है। विभिन्न नृजातीय समूह अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों पर विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों के द्वारा दावा कर रहे है। असम, पंजाब, उत्तर-पूर्व के राज्यों, पश्चिमी बंगाल और कश्मीर में नृजातीय आंदोलनों ने अल्पसंख्यकों के लिए राज्य में उनकी पहचान को स्थापित करने के लिए अलग चेतना पैदा कर दी है। कुछ नृजातीय आंदोलन लोकतांत्रिक व शांतिपूर्ण है तथा पृथकतावादी आंदोलन नृजातीय हिंसा के साथ जुडें हुए है। इस प्रकार, नृजातियता राष्ट्र-राज्य में एक प्रमुख मुद्दा रही है।

नृजातियता शब्द शैक्षणिक संवाद में एक लोकप्रिय शब्द रहा है जो जाति, भाषा, धर्म, क्षेत्र इत्यादि आरोपित (जन्म पर आधारित) पहचानों को संदर्भित करता है। *'नृजातियता'* शब्द का सर्वप्रथम उपयोग फ्रांसिसी राष्ट्रवादी और वैज्ञानिक जार्जिस वाचर इ ला पूज ने 1896 में जनसंख्या की ''प्राकृतिक और कल्पित'' सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक विशेषताओं की व्याख्या करने और इसको प्रजाति या नस्ल, जिसको वह भौतिक विशेषताओं की एक श्रृंखला के रूप में परिभाषित करता है, से अलग दर्शाने के लिए किया था (वाचार द ला पूज, 1896)। नृजातीय शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के 'ethnicus' तथा ग्रीक भाषा के 'ethnicas' शब्दों से हुई है, इन दोनों का अर्थ राष्ट्र है। शब्द की उत्पति के अनुसार, नृजातियता एक साथ रहने वाले लोगों के झुंड (राष्ट्र) को दर्शाती है जो ज्ञान और सामान्य रीति-रिवाजों को सांझा करते है। नृजातियता सामाजिक गुणों को भी दर्शाती है जो मानव जनसंख्या द्वारा सांझा किये जाते है जैसे राष्ट्रीयता, जनजाति, धार्मिक विश्वास, सांझी भाषा, सांझी संस्कृति और सांझे रीति-रिवाज।

7.2 नृजातियता की 'अवधारणा'

समाजिक विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोष के अनुसार, 'प्रजातीय समूह एक बड़े समाज में जनसंख्या की अलग श्रेणी है जिसकी संस्कृति आमतौर पर अपने स्वयं के समाज से अलग होती है। इस प्रकार के समूह के सदस्य अपने आप को संस्कृति या राष्ट्रीयता या प्रजाति के सामान्य संबंधो द्वारा एक साथ बंधा हुआ मानते है या महसूस करते है या सोचते है। जब बहुसंख्यक समूह द्वारा उन्हें उनके आधिकारों, स्वतंत्रताओं और समानता से वांचित कर दिया जाता है तब वे अपने समूह बनाते है। सदस्य वृहत समुदाय से शारीरिक और सामाजिक रूप से पृथक होते है।

घोष (2003) के अनुसार, ''नृजातियता एक समूह या समूहो या समुदाय द्वारा दूसरों पर प्रभुत्व या अधीनता के एक या अधिक सामजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रतीकों के संदर्भ में पहचान (वास्तविक या काल्पनिक) की चेतना के निर्माण और पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया है जो आत्मसातकरण, पर - संस्कृतिग्रहण, अन्तः क्रिया, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होती है।'' टी.के.ओमेन की राय है कि नृजातीय उन लोगों का एक समूह है जो एक सामान्य इतिहास, परम्परा, भाषा और जीवन-शैली को सांझा करते है परन्तु मातृभूमि के लिए अनासक्त और/या मातृभूमि से अलग (उखाड़ फेंके हुए) होते है। नृजातियता एक प्रक्रिया है जो नृजातीय समूह के सदस्यों के मध्य नृजातीय चेतना के बोध को उत्पन्न करती है और समान जाति, भाषा और धर्म के सदस्यों को उनके आर्थिक और राजनीतिक हितों को स्पष्ट करने के लिए गतिशील बनाती है।

मैक्स वेबर ने लिखा है : ''नृजातीय समूह वो मानव समूह है जो शारीरिक प्रकारो या रीति-रिवाजों या दोनों की समानताओं के कारण या प्रवसन व उपनिवेशवाद की यादों के कारण अपने सामान्य वंश में एक व्यक्तिपरक विश्वास को रखते है। समूह निर्माण के प्रसार के लिए यह विश्वास महत्पपूर्ण होता है। इसके विपरीत, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि एक वस्तुनिष्ठ रक्त संबंध मौजूद है या नही'' (हचिंसन और स्मिथ 1996, 35)।

7.3 नृजातीय पहचान

नृजातीय पहचान जन्म के समय निर्धारित होती है, मानव प्रकृति में अंतर्निहित होती है और पीढ़ी से पीढ़ी को स्थानांतरित होती है। फ्रेडरिक बर्थ (1969) ने तर्क दिया है कि नृजातीय पहचान सीमाएँ निर्धारित करने का एक साधन थी जिसने एक समूह को दूसरे समूहों से दूरी बनाने में सक्षम बनाया। बार्थ अपनी स्थिति के बारे में काफी सशक्त था जैसा कि उसने दृढ़ता से कहा है कि नृजातीय सीमाएँ एक समूह को परिभाषित करती है और ना कि ''सांकृतिक विषय वस्तु को जो इसे घेरती है'' (सोल्लार्स, 1996, xxii)

रजनी कोठारी, एक प्रख्यात सामाजिक वैज्ञानिक (1988) ने तर्क दिया है कि नृजातीय पहचान की निर्माण की प्रक्रिया को तब गति मिलती है जब अल्पसंख्यक के ऊपर बहुसंख्यक का प्रभुत्व करती है। इसीलिए कोठारी ने भारत में नृजातीय आन्दोलनों को हाषिये के लोगों के आन्दोलन के साथ जोड़ा है और उनके भी साथ भी जो स्वदेशी प्रमाणिकता चाहते है। पैथी (2000) ने भी समान रूप से तर्क दिया है। इसने उनको उनकी बहुत सी भूमि, जीविका, भाषा, धर्म और संस्कृति से भी वंचित कर दिया है। राष्ट्र-राज्य की पश्चिमी धारणा विभिन्न संस्कृति लोग तथा विचारों के आदान प्रदान स्थल (मेल्टिंग पॉट) की तरह एक सजातीय राष्ट्रीय संस्कृति की अग्रणी/कारण बन रही है और यह एक मिथक साबित नहीं हुई है। भारत में जनजातीय, गैर-जनजातीय या हिन्दू-मुस्लिम अन्तः क्रियाओं के कारण भारत की किसी विशेष संस्कृति अंत नहीं हुआ है। भारत में अल्पसंख्यक (और बहुसंख्यक भी) पहचान समूहों की विशाल उपस्थिति और प्रासंगिकता हमारे लिए एक सीख है। यह कहना उचित कि बहुसंख्यक या सता प्राप्त समूह द्वारा किये गये 'प्रभुत्व' ने अल्पसंख्यक की नृजातीय प्रथक्कता को संगठित किया है।

ओमेन (1997) ने विश्लेषण किया है कि किसी भी नृजातीय पहचान आंदोलन की सफलता काफी हद तक उस तरिके पर भी निर्भर है जिससे राज्य और केन्द्र सरकार ने इसको संचालन किया है। इस बात को साबित करने बहुत से तथ्य है कि राज्य द्वारा मॉगो को तभी माना गया है जब संबंधित आंदोलन अपने राजनीतिक प्रभाव का प्रदर्शन करता है। उदाहरण के लिए पूरे उत्तर-पूर्व भारत, पंजाब, दार्जिलिंग, उत्तराखण्ड या झारखण्ड में अलग राज्य या प्रशासनिक इकाई की मॉग को तब तक स्वीकार नहीं किया गया था जब तक इन आंदोलनों ने राजनीतिक महत्व प्राप्त नहीं किया था। परन्तु ऐसा करने में, राज्य ने परोक्ष रूप से परस्पर विरोधी स्थितियों को बनाए रखा और इस प्रकार के आंदोलनों की तीव्र वृद्धि में सहयोग दिया। उत्तर-पूर्व में मिजो अथवा नागा विद्रोह की सफलता ने समान प्रकार के आंदोलन शुरू करने के लिए दूसरे इलाके के सभी समूहों को प्रेरित किया। उत्तर-पूर्व के सभी प्रमुख विद्रोही समूह आज भूमिगत संबंध रखते है ताकि भारतीय राज्य पर अधिक दबाव डाल सके। इस प्रकार, स्थैतिक (स्थिर) प्रतिक्रिया विरोधाभासी ठंग से नृजातीय आंदोलनों की उत्पत्ति के लिए उत्तप्रेरक कारक बन जाती है। यहॉ तक की जब राज्य आन्दोलन नेतृत्व के सह-विकल्प द्वारा तनाव प्रबंधन की कोशिश करता है तो अच्छी व्यवस्था के लिए आकांक्षी नए नेतृत्व को जन्म देकर लम्बे समय में यह प्रयास उल्टा दॉव

पड़ जाता है। त्रिपुरा के मामले में, 'रियायती लोकतंत्र' की प्रक्रिया दो से अधिक दशको के लिए प्रतिकूल बन गयी थी जैसे विरोधी राजनीतिक दलों के इस या उस विद्रोही समूह को लुभाने के साथ आतंकवाद धीरे-धीरे एक उद्योग बन गया है (घोष 2003)।

वीना दास (1990) और इम्तियाज अहमद (1984) ने दर्शाया है कि कैसे आर्थिक और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता सामुदायिक तनाव और आन्दोलनों को भड़कती है। शाह बानो के मामले में कुलीन वर्ग और पेशेवर सम्प्रदायवादियों ने पहचान के निर्माण और विरूपण (विकृति) में सहयोग दिया था (जोया हसन 1989) एक स्पष्ट तथ्य बन जाता है। अक्सर, प्रभुत्वशाली बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों को तथा कथित मुख्यधारा में आत्मसात और एकीकृत करने की कोशिश करते है। इन सभी मामलों में, नृजातियता और संप्रदायवाद के प्रतीकात्मक और सांस्कृतिक पहलू अपने प्रकोप के लिए राजनीतिक अभिव्यक्ति और संघटन पर निर्भर है। 60 वर्षो पहले लिखकर नेहरू ने सही पेश किया है कि 'साम्प्रदायिक समस्या एक धार्मिक समस्या नहीं है, (टी. एन. मदान 1993: 550 से उद्घृत) भारत में नृजातीय पहचान और दावों की अभिव्यक्ति मुख्यतः निम्नलिखित स्वरूप लेती हैः

7.4 नृजातीय पहचान और दावों के स्वरूप

भारत में नृजातीय पहचान और दावों के छः स्वरूप है, जिनका वर्णन नीचे किया है।

7.4.1 भाषाई नृजातियता

भाषा हमेशा ही नृजातीय पहचान की एक आधारशिला रही है। प्रत्येक नृजातीय समूह अपनी स्वयं की भाषा रखता है और नृजातीय समूह के सदस्य अपनी स्वयं की भाषा के द्वारा अपनी नृजातीय पहचान बनाते है। तमिलनाडू में 1940 और 1950 के दशक में द्रविड़ काजगम आंदोलन हुआ। इस आंदोलन में द्रविड़ भाषी लोगों ने भारत सरकार द्वारा हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने का प्रबल विरोध किया। वनायक (1990) ने कहा है कि भारत में भाषाई नृजातियता राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति के साथ अस्तित्व में आयी है। उन्होने तर्क दिया है कि धर्म से विपरीत, भाषाई चेतना कभी भी अलग राष्ट्रीयता के लिए शक्तिशाली प्रतियोगी है क्योकि ज्यादातर भारतीयों के लिए, भाषाई चेतना बिना किसी विरोध के राष्ट्रीय चेतना के साथ सह-अस्तित्व में है। ओमेन (1990) ने भाषा और धर्म की तुलना करते हुए कहते है कि प्रशासनिक पुनर्गठन के लिए धर्म की तुलना में भाषा अधिक वैधता है।

7.4.2 संप्रदायवाद

धार्मिक दावों और संप्रदायवाद की अवधारणा ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए एक बड़ा खतरा पैदा कर रखा है। जब नृजातीय समूह धर्म के द्वारा अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयास करते हैं, तब वे संघर्ष और सामुदायिक जीवन के लिए खतरा उत्पन्न करते है। इतिहास बताता है कि संप्रदायकवाद देश में सांप्रदायिक संघर्ष का प्रमुख स्रोत रहा है। बिपिन चन्द्रा मानते है कि भारत में संप्रदायवाद एक आधुनिक प्रघटना है। इसकी जड़े ब्रिटिश साम्राज्यवाद में है और व्यापक जुटाव (लाभबंदी) तथा काल्पनिक साम्प्रदायिक हितों पर आधारित आधुनिक राजनीति से निकलकर सामने आया है। भारत में ब्रिटिश नीति ''फूट डालों और शासन करो'' ने ही हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच मनमुटाव और अविश्वास के इतने गहरे बीज बोए थे कि दोनों समुदायों के मध्य की खाई को पाटने की प्रक्रिया अभी भी समाप्ति से बहुत दूर है।

भारत में हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच अपने धार्मिक प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए दोनों समुदायों के अपने हितों के कारण निरन्तर संघर्ष है। 2002 में गुजरात हिंसा, 1984 में सिख दंगे, 1992 में अयोध्या में हिन्दू-मुस्लिम टकराव बड़े सामप्रदायिक दंगों के प्रत्यक्षदर्शी है और इनके कारण सम्पूर्ण देश में बहुत से मासूमों की जान गयी है।

7.4.3 जनजातीय आंदोलन

आदिवासी स्वदेशी/मूल निवासी समूह है जो वनों में रहते थे। वे ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित रहे है और जमीदारों, साहूकारों व सरकारी अधिकारियों के हाथों क्रूरतापूर्वक अत्याचार किया गया है। उनको उनके आंतरिक इलाकों से विस्थापित कर दिया गया जिसके कारण उन्होने अपनी आजीविका को खो दिया जिसके परिणामस्वरूप उनमें भारी असंतोष है। उन्होने गैर-आदिवासियों (बाहरी लोगों) के प्रति घृणा पैदा कर ली जिन्होनें उनकी पैतृक भूमि पर कब्जा कर लिया था और उनको उनके जल, जंगल तथा जमीन से विस्थापित कर दिया था। वे मुख्यधारा के लोगों के साथ मतभेद में रहे है। आदिवासी अपनी नृजातीय पहचान के दावों के लिए अपने करते रहे है। मध्य प्रदेश, गुजरात, झारखण्ड और उत्तर-पूर्व भारत में ओरॉन, मुण्डा, मैकडा इत्यादि जनजातियों के विद्रोही आदिवासी नेताओं ने साम्राज्यी शासको से लड़ाई लड़ी ताकि अपने जीवन और आजीविका का संरक्षण कर सकें।

स्वतन्त्रता के पश्चात्, जनजातीय आंदोलनों को सांस्कृति पहचान बनाए रखने के लिए या अलग राज्य की मॉग के लिए या संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के द्वारा अपनी प्रस्थिति को हिन्दू जाति के समान होने के दावों के लिए निर्देशित किया गया था।

7.4.4 नृजाति-राष्ट्रवाद

नृजाति-राष्ट्रवाद की समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों ने ज्यादा ध्यान नहीं दिया क्योकि बहुत सारे विचारक मानते है कि यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए एक बड़ा खतरा नहीं है। परन्तु इसने आन्तरिक राष्ट्रीय अध्ययनों में गति पायी अर्थात् अपनी ओर ध्यान आकर्षित किया। वाल्कर के अनुसार ''यह अवधारणा, अपने ही राज्य से वंचित राष्ट्र के प्रति वफादारी और एक विशिष्ट राज्य में सन्निहित एक नृजातीय समूह के प्रति वफादारी, खास तौर पर जहॉ बाद वाले की राष्ट्र-राज्य के रूप में कल्पना की गई है, इन दोनों को दर्शाती है।'' नृजाति-राष्ट्रवाद में एक समूह अपने राष्ट्र के प्रति वफादारी/निष्ठा विकसित कर लेता है जो एक नृजातीय समुदाय की इच्छा से चिन्हित है और समुदाय को उसके आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक मामलों पर पूर्ण आधिकार प्राप्त है। यह एक नृजातीय राष्ट्र की ओर से राज्यत्व की खोज को दर्शाता है।

के.एन. पाणिक्कर (2011) ने लिखा है कि विभिन्न रणनीतियों और विधियों का उपयोग करके समय-समय पर नृजातीय पहचान और निष्ठा भारतीय राजनीति में सामने आयी है। दुर्भाग्य से, राज्य ने उन तरीकों से जो बल पर अधिक निर्भर थें इन हाशिए के समूहों की आकांक्षाओं पर प्रतिक्रिया दिखायी और इसके कारण ये समुदाय और अधिक अलगाव की भावना से ग्रसित हो गये अर्थात् इन समुदायो को अलग-अलग कर दिया। नृजातीय संघर्ष तब होता है जब संगठित गातिशील पहचान समूह एक स्थापित राष्ट्र में या एक नवीन गठित राज्य में स्वायत्तता और शक्ति के लिए संघर्ष करते है।

7.4.5 क्षेत्रवाद

क्षेत्रवाद का तात्पर्य किसी की अपने क्षेत्र के लिए अधं निष्ठा से है। क्षेत्रवाद एक निश्चित क्षेत्र के आधार पर अपने अधिकारों का दावा करने के लिए नृजातीय समूहो को बनाने में सहायता करता है। भारत में बहुत सारे नृजातीय मतभेद है और ये नृजातीय मतभेद क्षेत्रीय भावना के लिए मजबूत आधार उत्तपन्न करते है जो राष्ट्रीय एकीकरण के लिए खतरों को आमंत्रित करता है। मजबूत आंदोलनों के कारण, केन्द्र सरकार ने अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय और दूसरे उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों का केन्द्र शासित क्षेत्रों की जगह राज्यों का दर्जा स्वीकार किया। गोवा 1987 में एक राज्य बन गया। तीन नए राज्यों (जो 2000 में बने थे)- मध्य प्रदेश में से छत्तीसगढ़, बिहार में से झारखण्ड और उत्तर प्रदेश में से उत्तराखण्ड- आंदोलन लंबे समय से चल रहे थे पर 1990 के दशक में जोरदार (सशक्त) हो गए थे। और सबसे ताजा उदाहरण, हम आंध्र प्रदेश के विभाजन का तेलंगाना के रूप में अलग राज्य का देख सकते है जो 1950 के दशक में शुरू हुआ था।

7.4.6 जातिवाद

जातिवाद किसी की अपनी जाति या उपजाति के प्रति अंध समूह निष्ठा है। यह अपने स्वयं के समूह के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्य हितों के लिए काम करता है। बैते (1992:51) ने तर्क दिया है कि नृजातियता के व्यापक ढ़ांचे के भीतर, जाति उपेक्षाकृत अस्पष्ट स्थिति रखती है। जाति व्यवस्था को नृजातियता भेदभाव के विशेष मामलें के रूप में देखा जा सकता है। जाति भारतीय राजनीति में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी (दलित आधारित पार्टी) और बिहार राज्य में राष्ट्रीय जनता दल (मध्यवर्ती जातियों की एक पार्टी) भारत में जातिगत राजनीति के प्रभुत्व को प्रदर्शित करती हैं। अब जाति समूह समान हितों को सांझा करते है और अपनी एकता को मजबूत करने के लिए समान सामाजिक -सांस्कृतिक गुणों को भी सांझा करते है। स्टीफन बार्नेट (1975) ने ''नृजातीयकरण के लिए जाति का आधुनिक रूपांतरण'' को दर्शाया है (रेड्डी 2005: 547)।

जति आधारित नृजातियता पर टिप्पणी करते हुए, रूडोल्फ एंव रूड़ोल्फ (1967:32-36) विचार रखते है कि भारत जैसे प्रतिनिधि लोकतंत्र में संख्यात्मक शक्ति का बहुत महत्व है। एक साथ आना अर्थात् संगठित होना सभी जातियों के हित में है। इसी कारण से जाति सभाओं और जाति संघो में तेजी से विस्तार हुआ है। रूडोल्फ एवं रूडोल्फ इन सभाओं या समितियों को 'अर्द्व-समुदाय' कहते है। ये अर्द्व-समुदाय जाति सदस्यों को एक साथ आने के लिए समर्थ बनाते है और सामाजिक गतिशीलता, आर्थिक फायदों और राजनीतिक शक्ति को सामूहिक रूप से पाने की कोशिश करते है। रेड्डी (2005:547) के अनुसार, सुसान बेलि (1999) के लिए, जाति का नृजातीय चरित्र इसके एक जरूरी नैतिक जनादेश बनने में निहित है ''स्वतंत्र भारत में, सामूहिक गुणों और दायित्वों का एक संबंध है जिसके आधार पर सार्वजनिक उत्साही लोगों को निर्णायक कार्यवाही करनी चाहिए जब उनसे सक्रिय झगड़ों में शामिल होने के लिए कहा जाय।''

7.5 भारत में नृजातीय उन्नति के लिए उत्तरदायी कारक

रजनी कोठारी (1988) के लिए नृजातीय उन्नति (उथल-पुथल) आधुनिक राज्यों की समरूपता की प्रवृत्ति और उनकी तकनीकी/शैक्षिक अनिवार्यताओं का परिणाम है। सामाजिक

वैज्ञानिकों का एक समुदाय भी सुझाव देता है कि नृजातियता के अध्ययन में जबकि संस्कृति और सांस्कृतिक विभिन्नता पूर्णरूप से अप्रसांगिक नहीं है, परन्तु राजनीतिक प्रक्रिया है। कोहन (1974) ने भी समान रूप से तर्क दिया है कि नृजातियता को सांस्कृतिक या ऐतिहासिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती है; इस प्रघटना को समझने के लिए समकालीन राजनीति और 'संरचनात्मक स्थितियाँ' ही प्रमुख है।

प्रिया आर्य (2016) ने भारत में उत्तेजित नृजातियता के लिए जिम्मेदार कुछ महत्वपूर्ण कारको की व्याख्या की है:

1) भारत एक बहुल समाज है। यह यहॉ रह रही अनेक जातियों और बहुत से धर्मो, भाषाई, सांस्कृतिक व प्रजातिय समूहों के साथ इसकी जनसंख्या में बड़ी विविधता के द्वारा चित्रित है। दुर्लभ अर्थिक संसाधनों के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा और विभिन्न समूहों के लोगों मे अपनी पुरानी संस्कृति को बनाए रखने के लिए बढ़ी चेतना के कारण, भारत हमेशा से ही नृजातीय पहचानों के दावों के प्रति संवेदनशील रहा है।

2) देश के असंतुलित आर्थिक विकास, जिसके कारण कुछ समूह अपने आप को हाषिये पर और विकास की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से पिछड़ा हुआ महसूस करते है।

3) भारत में प्रतिनिधित्व संसदीय लोकतंत्र जहॉ पर विभिन्न नृजातीय समूह (जातियाँ, धार्मिक समूह, भाषाई समूह आदि) क्षैतिज एकता और सांझे हितों के एकीकरण पर जोर द्वारा राजनीतिक शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा करते है।

4) जाति और धर्म का बढ़ता राजनीतिकरणः जाति और धार्मिक पहचानों को अक्सर राजनीतिक नेताओं द्वारा लोगों को उनके निहित हितों और क्षुद्र राजनीतिक नेताओं द्वारा लोगों को उनके निहित हितों और क्षुद्र राजनीतिक लाभों के लिए जुटाने को तैयार किया जाता है।

5) अल्पसंख्यकों (भाषाई और धार्मिक दोनों) के बीच डर कि वे प्रभावशाली संस्कृति में आत्मसात हो सकते है जिससे उनकी सास्कृतिक विरासत कमजोर हो जायेगी। इस प्रकार, यहॉ पर क्षैतिज एकता को विकसित करने के लिए नृजातीय पहचान पर जोर है। ऐसी भावनाऍ इसलिए भी बढ़ी है क्योकि वैश्वीकरण और सांस्कृतिक एकरूपता की प्रक्रिया सभी जगह घट रही है। सांस्कृतिक वैश्वीकरण यहॉ तक कि खुद का दावा करने के लिए हिन्दू बहुमत भी प्रेरित कर रहा है और भारत में पुनरूत्थानवपद को जन्म दे रहा है।

6) भारत की जनजातियों के बीच दोषपूर्ण विकास नीतियों के कारण अलगाव की तीव्र भवना, उनको उनकी पुरानी बसी हुई भूमि और जंगल से जबरन विस्थापन की ओर अग्रसर कर रही है, और बहुत भयानक गरीबी तक सीमित कर रही है।

7.6 नृजातीय आंदोलन के लिए सैद्धांतिक दृष्टिकोण

नृजातियता के अध्ययन के लिए मुख्यत चार दृष्टिकोण है। इन दृष्टिकोणो की नीचे क्रमशः व्याख्या की जा रही है:

7.6.1 प्रारम्भिक दृष्टिकोण

प्रारम्भिक दृष्टिकोण विश्वास करता है कि नृजातियता मौलिक (प्रारम्भिक) संबंधो पर आधारित है। यह सिद्वांत तर्क देता है कि नृजातिय समूह विश्वास की परम्पराओं और

आदिन वस्तुओं की ओर क्रिया के कारण मौजूद है। इसके सदस्य सामान्य रक्त, वंष, पूर्वजों, परिवार, संबद्व, मूल और जुटता से बंधे होते है।

बार्थ (1969) के अनुसार यह नृजातियता का 'बिना प्रमाण मान लेने' वाला एक मॉडल है। इसके चार सैद्धांतिक लक्षण हैः

1) नृजातीय समूह जैविक रूप से आत्म-स्थायी (आत्म को बनाये रखने वाले) है।
2) इस समूह के सदस्य आधारभूत सांस्कृतिक मूल्यों को साझा करते है जो प्रत्यक्ष सांस्कृतिक स्वरूपों में जाहिर होते है।
3) यह समूह संचार और अन्तःक्रिया का एक घिरा हुआ सामाजिक क्षेत्र है।
4) इसके सदस्य स्वयं को तथा दूसरों के द्वारा उस समूह से संबद्व माने जाते है।

मैके (1982) ने सुझाव दिया है कि हालांकि यह दृष्टिकोण नृजातीय बंधनों की भावनात्मक ताकत के लिए जिम्मेदार हो सकता है, पर यह निर्धारणात्मक और स्थिर है। यह मानता है कि नृजातीय समूहों के सदस्यों के पास लगाव के भाव के कम विकल्प होते है। इस तरह के दृष्टिकोण के विपरीत, नृजातियज्ञान साक्ष्य दर्शाते है कि नृजातीय पहचान दी हुई (प्रदान की गयी), स्थिर या परा-ऐतिहासिक नहीं है। एक समूह की मात्र सदस्यता एक सामाजिक श्रेणी को 'आत्मगत स्वयं चेतन समुदाय' में नहीं बदल सकती है। पॉल ब्रास (1991) के अनुसार, भाषा, नातेदारी, या जाति जैसे कुछ प्रारम्भिक (मौलिक) लगाव परिवर्तनशील है। इसके अतिरिक्त, प्रवसन भी भूमि के साथ नई चाहतों को पैदा करता है। उपकरणात्मकों जैसे ब्रॉस भी तर्क करते है कि नृजातीय लगाव आवश्यक रूप से मानव व्यक्तित्व के गैर-तर्कसंगत भाग से संबद्व नहीं होते है।

7.6.2 उपकरणात्मक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण विश्वास करता है कि कोई अपनी नृजातीय पहचान को लाभ पाने के लिए राजनीतिक या आर्थिक कारण से बदल सकता है। वह उस नृजातीय पहचान को स्वीकार करता है जो उसको अधिक लाभ पहुँचाती है। यह दृष्टिकोण तर्क देता है कि नृजातीय पहचान व्यक्ति द्वारा सामाजिक, राजनीतिक और भौतिक लाभों को प्राप्त करने के लिए बनायी और पोषित की जाती है।

यह दृष्टिकोण फ्रेडरिक बार्थ (1969) की देन है, जिन्होने तर्क दिया है कि ''नृजातीय सदस्यता एक समूह का गठन नहीं करती है। यह केवल समूह निर्माण को आसान बनाती है, विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र में।'' वेबर ने तर्क दिया है कि नृजातियता सामूहिक राजनीतिक क्रियाओं का एक परिणाम है बजाय इसके कारण के वेबर के अनुसार भले ही एक नृजातीय समूह प्रस्थिति समूह के एक विशिष्ट स्वरूप में प्रकट हो जाये परन्तु नृजातियता में निहित सामूहिक क्रिया के लिए संभावनाएं 'असीम' है।

बार्थ ने अपने कार्य नृजातीय समूहों और सीमाओं (1969) में बल दिया है कि नृजातीय पहचान अंतःक्रियाओं के दौरान पैदा होती है, उसकी पुष्टि होती है या परिवर्तित होती है। नृजातियता एक तर्कसंगत अवधारणा है क्योकि नृजातीय होने में कम से कम 'दो' लगते है। नृजातीयता राजनीति, निर्णय लेने और लक्ष्य-उन्मुखीकरण का मामला भी है। एक स्थैतिक से अन्तः क्रियात्मक दृष्टिकोण की ओर बदलाव को यह तर्क देने के लिए बढ़ाया गया था कि लोग वतावरण और परिस्थितियों के कारण अपनी नृजातीय आरोपण में परिवर्तन के

साथ-साथ रूपांतरण भी कर सकते है और करते है। समान तर्क के आधार पर, पॉल ब्रास (1991) ने तर्क दिया है कि नृजातियता का उदय विशिष्ट प्रकार की अन्तः क्रियाओं और अभिजनों के बीच प्रतिस्पर्धा से होता है। नृजातीय पहचान के निर्माण को पॉल ब्रास द्वारा अभिजात वर्ग रचना और जोड़-तोड़ की गतिशीलता में एक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।

7.6.3 आधुनिकीकरण दृष्टिकोण

नृजातियता का आधुनिकीकरण दृष्टिकोण विश्वास करता है कि आधुनिकीकरण के प्रभावों के कारण, नृजातीय समूह में मौलिक निष्ठा के लिए लगाव में कमी आयेगी। पहचान समूह अस्थायी घटना है। पारम्परिक समाज से आधुनिक समाज की ओर हुए बदलाव के कारण नृजातीय पहचान आधुनिक राष्ट्र राज्य के साथ आत्मसात हो जायेगी। औधोगीकरण, राष्ट्रवाद और पूँजीवाद जैसी आधुनिक प्रघटनाएँ नृजातीय पहचान के महत्व को दुर्बल बना रही है। वैश्विक आधुनिक राज्य की उत्पति ने नृजातीय समूह की संरचना और प्रकार्यो पर असर डाला है और धीरे-धीरे सांस्कृतिक अंतरों को दरकिनार कर देगी।

गुप्ता (1996) ने उदाहरण देकर बताया है कि पंजाब आंदोलन, जो कुछ धर्म निरपेक्षक मॉगो के साथ शुरू हुई थी जैसे चंडीगढ़ पंजाब की राजधानी के रूप में, पंजाब और हरियाणा के बीच में पानी का आदान-प्रदान करना और झगडे को सुलझाने के लिए क्षेत्रीय अदालत, को केन्द्र सरकार और कांग्रेस पार्टी द्वारा राजनीतिक फायदे के लिए नृजातीय रूप दे दिया गया था।

7.6.4 सामाजिक निर्माणवाद दृष्टिकोण

नृजातियता एक सामाजिक निर्माण है जो लोगों को भौतिक रूप-रंग, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और पैतृक विरासत आदि गुणों के आधार पर विभिन्न समूहों मे विभाजित करता है।

जेंकिन्स (1997:40) ने इस मॉडल के चार तत्वों की पहचान की हैः

क) नृजातियता सांस्कृतिक अंतरो पर जोर देती है;

ख) नृजातियता सांस्कृतिक है;

ग) नृजातियता कुछ हद तक परिवर्तनशील और हेरफेर करने योग्य है; और

घ) नृजातियता एक सामाजिक पहचान के रूप में सामूहिक एंव व्यक्तिगत, बाहरी एंव आन्तरिक दोनों है।

नृजातिय अभिप्राय और सामूहिक पहचान परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ स्वरूप और अर्न्तवस्तु में परिवर्तन कर लेते है। इसीलिए, सीमा निर्धारित करने वाले के रूप में सांस्कृतिक परम्पराओं का अविष्कार किया गया है और चयनात्मक कार्यसूची, जिसका तर्क पूरी तरह से आकास्मिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है, के आधार पर अपनी जगह पर रखा गया है (होब्सबौन एंव रेंजर, 1983)।

7.7 भारत में प्रमुख नृजातीय आंदोलन

नृजातीय अंतर नृजातीय संघर्ष को उत्पन्न करते है। नृजातीय संघर्ष सामाजिक पहचान का एक मुद्दा हो गया है। नृजातीय संघर्ष नृजातीय समूहों की आर्थिक और राजनीतिक

आवश्यकताओं की और गैर पूर्ति (असंतोष) के कारण उत्पन्न होता है। जब नृजातीय समूह अपने अस्तित्व को लेकर भयभीत होते है तब वे संघर्ष का सहारा लेते है और इसका परिणाम नृजातीय हिंसा होता है। जैसा कि वेस्ना पेसिस, बेलग्रेड के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, ने कहा है, 'नृजातीय संघर्ष' ''भविष्य के भय'' के कारण होता है, जो अतीत के माध्यम से रहते है।''

भारत ने बहुत से नृजातीय आंदोलन को देखा है जिनका नीचे क्रमशः वर्णन किया गया हैः

7.7.1 पंजाब में नृजातीय आंदोलन

खालिस्तान आंदोलन सिक्खों के एक सम्प्रदाय द्वारा एक अलग सिक्ख देश बनाने के लिए किया गया था। आंदोलन पंजाब में 1970 में तीव्र हो गया था और 1990 के दशक की शुरुआत तक जारी रहा था। सिक्ख नेताओं का एक समूह केन्द्र सरकार से अधिक स्वायत्तता की मॉग करने लगा। उन्होने जून 1984 में खलिस्तान नामक अलग देश की मॉग की। हिंसा के कारण भारतीय सरकार ने सैन्य कार्यवाही, 'आपरेशन ब्लयू स्टार' का आदेश दिया जिससे हरमन्दर साहिब, अमृतसर और तीस दूसरे गुरूद्वारों (सिक्खों के पूजा स्थान) को सशस्त्र आतंकवादियों से मुक्त करा सके जो गुरूद्वारों में हिंसा के लिए सहारा ले रहे थे।

इंदिरा गांधी, तत्कालीन प्रधानमंत्री की उनके दो सिक्ख अंगरक्षको के द्वारा हत्या कर दी गयी जिसके परिणाम-स्वरूप 1984 में सिक्ख विरोधी दंगों में हजारों सिक्खों का कत्ल कर दिया गया। बाद में पंजाब विद्रोह ने पंजाब में कुछ अलगाववादी आतंकी समूहों को सक्रिय होते हुए देखा, जिनका समर्थन सिक्ख आंदोलन के एक भाग द्वारा किया गया। भारतीय राज्य ने 1990 के दशक के आरम्भ में विद्रोह को नियंत्रित कर लिया।

7.7.2 उत्तर-पूर्व में नृजातीय आंदोलन

उत्तर-पूर्व क्षेत्र में बहुत से नृजातीय आंदोलन हुए है। भौतिक रूप से अगम्य, सामाजिक-भाषाई और धार्मिक विशिष्टता के कारण इस क्षेत्र में जनजातिय लोगों की बड़ी संख्या मुख्यधारा की संस्कृति के साथ आत्मसात नहीं हो पायी है। उनमें से ज्यादातर ने इसाई धर्म को अपना लिया है। पहला जनजातीय समूह, नागाओं ने स्वतन्त्र राज्य के लिए आंदोलन शुरू किया। एक लम्बे संघर्ष के बाद वे 1963 में एक अलग राज्य नागालैण्ड को प्राप्त करने में सफल हुए। इसी प्रकार दूसरी नृजातीय समस्या उत्तर-पूर्व के मिजो आदिवासियों के साथ रखता था। मिजो ने भी अलग राज्य स्थापित करके स्वायत्तता पाने के लिए अपना संघर्ष जारी रखा। मिजोरम की केन्द्र शासित प्रदेश की स्थिति राज्य के दर्जे में बदल गयी।

7.7.3 गोरखालैण्ड में नृजातीय आंदोलन

भारत में नया नृजातीय आंदोलन दार्जिलिंग में गोरखा आंदोलन के रूप में आया जो अलग गोरखालैण्ड राज्य की मॉग कर रहा है। 1980 में सुभाष घीसिंग ने गोरखा नेशनल लिबरेशन फ्रंट (GNLF) की स्थापना की । घीसिंग की मुख्य माँग भारत के नेपाली बोलने बाले नागरिको के लिए एक नए राज्य "गोरखालैण्ड" की थी। उसने एक "वृहत नेपाल" बनाने की योजना की बनाई थी। इस आंदोलन का समर्थन नेपाल ने इस मॉग के साथ किया कि भारतीय-मूल के लोगों ने तराई में नेपाली नागरिकता पाई है। बिमल गुरूंग,

गोरखा जन मुक्ति मोर्चा का एक नेता अलग राज्य के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए गोरखाओं के गुस्से और भावनाओं को भड़काने की कोशिश कर रहा है। उसने प्रसारित किया है कि गोरखालैण्ड हमारा जन्मसिद्व आधिकार है और वह इस मांग से एक कदम भी नहीं हटेगा।

7.7.4 द्रविड़ आंदोलन

आत्म-सम्मान आंदोलन या द्रविड़ आंदोलन 1925 में ई.वी.रामासामी के मुखर नेतृत्व में शुरू हुआ। इस आंदोलन का उद्देश्य एक ऐसे समाज को प्राप्त करना था जहॉ पिछडी जातियों को आत्म-सम्मान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना था। आत्म-सम्मान आंदोलन की दो मुख्य अवधारणाएँ ब्राहमणवाद विरोध और आत्म-सम्मान विवाह थे। जस्टिस पार्टी का गठन 1916 में ब्रिटिश भारत की मद्रास प्रेसीडेंसी में हुआ। इसने मुख्य रूप से अपना ध्यान ब्राह्मणों को उच्च पदों से हटाने पर केन्द्रित किया । धीरे -धीरे, गैर-ब्राह्मणों को हर एक क्षेत्र में प्रतिस्थापित कर दिया और प्रशासनिक सेवाओं एंव शिक्षा पर उनके एकाधिकार को नष्ट कर दिया जो कि ब्राह्मण पहले रखते थे। 1947 में, जब भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, पेरियार ने द्रविड़ कड़गम के सदस्यों को समारोह के बहिष्कार के लिए कहा था। उसके अनुसार, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था। उसने भविष्यवाणी की थी कि स्वतन्त्र भारत दक्षिण भारतीयों के वर्चस्व के अधीन लेकर आयेगा। आन्दोलन का नेतृत्व तर्क देता है कि उत्तर भारतीयों की हिन्दी भाषा, ब्राह्यवादी हिन्दू धर्म और आर्यन् संस्कृति को थोपना ही द्रविडयन पहचान के विकास के लिए हानिकारक थे। इसलिए, तमिल नृजातीय आंदोलन ने भारत से हिन्दी भाषा को थोपने से रोकने की मॉग की।

7.7.5 असम में नृजातियता

असम में मूल निवासी बोड़ो आदिवासियों और नए बसने वाले नृजातीय बंगाली मुस्लिमों के बीच संघर्ष 1952 में शुरू हुआ, और इसके बाद 1979-1985, 1991-1994 और 2008 में भी हिंसक झड़प हुई। 2012 में कोखराजार, चिरांग और धुवरी जिलो में बोड़ो और बॉंगलादेशी मुस्लिमों के बीच हिंसा भड़क और दंगे भड़क गये थे। इस हिंसा में 77 लोग मारे गये थे और हिंसा के कारण 4,00,000 से ज्यादा लोग विस्थापित हो गये थे जिसमें बोडों और बांग्लादेशी मुस्लिम दोनों शामिल थें। भूमि और सांस्कृतिक पहचान के नुकसान के कारण बोडो बांग्लादेशी अप्रवास का विरोध करते है। दंगों के बाद पूरे उत्तर-पूर्व में गैर कानूनी बाग्लादेशी अप्रवासियों के "जल्दी पता लगाने और निर्वासन" की मॉग को लेकर बडे पैमाने पर विरोध होने लगाा। इस मुद्दे को सामूहिक रूप से प्रदर्शित करने के लिए बोड़ो ने असम में दूसरे मूल निवासी आदिवासी समुदायों के साथ संबंध स्थापित कर लिये। इसी प्रकार, ऑल बोडोलैण्ड मुस्लिम स्टूडेंट यूनियन (ABMSU) ने जिहाद करने की धमकी दी और राज्य के खिलाफ हथियार उठाएं।

बोध प्रश्न 1

नोटः i) प्रश्नो के उत्तर देने के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करे।

ii) अपने उत्तर की तुलना इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तर से करे।

1) नृजातियता क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) नृजातीय पहचान क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) नृजातियता को समझने के लिए सैद्धान्तिक दृष्टिकोण कौन-से है?

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारत में प्रमुख नृजातीय आंदोलन कौन-से है?

.....

.....

.....

.....

7.8 सारांश

इस इकाई में नृजातियता की 'अवधारणा' का वर्णन किया गया है। शैक्षिक संवाद में नृजातयता एक लोकप्रिय आवधारणा है। नृजातीय पहचान की अवधारणा को भी अच्छी तरह से समझाया गया है। अपनी नृजातीय पहचान के निर्माण के लिए एक नृजीतीय समूह के सदस्य सामान्य भाषा, सामान्य इतिहास, सामान्य (सांझी) संस्कृति और सामान्य क्षेत्र से बचे (जुड़े) होते है।

फिर नृजातियता की आवधारणा को समझने के लिए नृजातीय आंदोलन के विभिन्न दृष्टिकोणों जैसे कि प्रारम्भिक दृष्टिकोण, उपकरणात्मक दृष्टिकोण, आधुनिकीकरण दृष्टिकोण और सामाजिक निर्माणवाद दृष्टिकोण का वर्णन किया गया है। भारत विभिन्न प्रमुख नृजातीय आंदोलनों से गुजरा है। उत्तर-पूर्व के राज्यों, असम, कश्मीर, पंजाब और उत्तर प्रदेश के नृजातीय-राजनीतिक आंदोलनों को विस्तार पूर्वक समझाया गया है।

7.9 संदर्भ

Beteille, Andre. (1992). *Society and Politics in India: Essays in a Comparative Perspective*. New Delhi: Oxford University Press .

Beteille, Andre . (2001, March 10). Race and Caste. *The Hindu*

Barth, F. (1969). *Ethnic groups and boundaries: The social organization of culture difference*. Boston: Little, Brown, & Co.

Brass, Paul. 1991. *Ethnicity and Nationalism: Theory and Comparison*. New Delhi: Sage.

Cohen, Abner, 1974. *Two-dimensional Man*. London: Tavistock.

Fenton Steve 1999. *Ethnicity: Modernity, Racism, Class and Cultur*e. London: MacMillan Press. Fenton, Steve. 1999.

Das, Veena. 1990. '*Introduction', in Veena Das, (ed.), Mirror of Violence: Communities, Riots and Survivors in South Asia*. Delhi: Oxford Univ. Press.

Hasan, Zoya. 1989. 'Minority Identity, Muslim Women's Bill Campaign and the Political Process', *Economic and Political Weekly*, vol. 24: 44-50.

Hutchinson, John and Anthony D. Smith 1996. *Ethnicity*. Oxford: Oxford University Press.

Ghosh, Biswajit. 2003. 'Ethnicity and Insurgency in Tripura', *Sociological Bulletin*, 52 (2): 221-243.

Ghosh, Biswajit. 2011. 'Cultural Changes in the Era of Globalisation', Journal of Developing Societies, 27 (2): 153-175.

Gupta, Dipankar. (1990). The Indispensable Centre: Ethnicity and Politics in the Indian Nation State. *Journal of Contemporary Asia*, vol 20, 521-38.

Gupta, Dipankar. 1996. *The Context of Ethnicity: Sikh Identity in a Comparative Perspective*, Delhi: OUP. ———,

2003. „Between Ethnicity and Communalism: The Significance of Nation State , Edinburgh paper in *South Asian Studies*, No 18.

Jenkins, Richard. 1997. *Rethinking Ethnicity – Arguments and Explorations*. London: Sage.

Kothari, Rajni. 1988. *State against Democracy: In Search of Humane Governance*. Delhi: Ajanta.

———, 1990. *Rethinking Development – In Search of Humane Alternative* . Delhi: Ajanta Publications.

Madan, T.N. 1993. '*Secularism in its place', in Yogesh Atal, ed. Understanding Indian Society* (546-562). New Delhi: Har Anand Pub

McKay, James. 1982. 'An exploratory synthesis of primordial and mobilizationist approaches to ethnic phenomena, *Ethnic and Racial Studies*, 5 (4): 395-420.

Manor, James. 1983. 'Anomie in Indian Politics: origins and potential Wider Impact', Economic and Political Weekly, Annual Number, vol. 18: 725-34.

Oommen, T. K. 1997. "Social movements and the State response: The Indian Situation , in A. M. Shah, B. S. Baviskar and E. R. Ramaswamy (eds.),Social structure and Change (Vol. 4: 134-162). New Delhi; Sage Publications

Panikkar K. N. 2011. Politics of Ethno –Nationalism, *The Hindu,* February 08,

Pathy, J. 2000. 'Tribe, Region and Nation in the Context of the Indian State', in S.L. Sharma and T.K. Oommen, (ed.). 2000. *Nation and National Identity in South Asia* (97-111). New Delhi: Orient Longman.

Priya Arya. Ethnicity in Post-Independent India: A Sociological Perspective on Its Causes and Manifestations *IOSR Journal Of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS)* Volume 21, Issue Ver. 5(Jan. 2016) PP 56-61.

Weber, Max. 1978. *Economy and Society. New York*: Bedminster Press.

accessed on 22.02.2018.

Reddy, Deepa. (2005). The Ethnicity of Caste. *Anthropological Quarterly*, vol.78, no.3, 543-584

Sharma S. L 1999. Ethnic Movements in Contemporary India: A Report , *Sociological Bulletin*, Vol. 44, No. 2 (SEPTEMBER 1995), pp. 290-293 Published by: Indian Sociological Society

Vacher de la Pouge, G. (1896). *Les selections sociales.* Thorin: Paris.

Vanaik, Achin. 1990. The *Painful Transition: Bourgeois Democracy in India*. London: Verso

https://en.wikipedia.org/wiki/Separatist_movements_of_India

https://www.scribd.com/doc/72465841/Unit-18-Ethnic-Movements

https://www.culturalsurvival.org/publications/cultural-survival-quarterly/ethnic-and-religious-conflicts-india

http://pandora.cii.wwu.edu/trimble/research_themes/ethnicity_identity.htm

https://www.encyclopedia.com/social-sciences/applied-and-social-sciences-magazines/ethnic-groups

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) नृजातियता एक अवधारणा है जो सांझी संस्कृति और जीवन के तरीके से संबंधित है। इसकी पहचान सामान्य (सांझी) भाषा, धर्म, भौतिक संस्कृति जैसे कपड़े व भोजन और सांस्कृतिक उत्पादों जैसे संगीत व कला के द्वारा है। नृजातियता समाज में सामाजिक एकता और सामाजिक संघर्ष को पैदा करती है।

2) नृजातीय पहचान व्यक्तिगत पहचान से अलग है। यह नृजातीय जागरूकता, नृजातीय आत्म पहचान, नृजातीय अभिवृत्तियों और नृजातीय व्यवहारों को प्रदर्शित करती है। एक नृजातीय समूह के सदस्य अपने समूह की सोच, धारणाओं, भावनाओं और व्यवहार के लिए पहचाने जाते है।

3) प्रारम्भिक दृष्टिकोण तर्क देता है कि नृजातीय समूह विश्वास की परम्पराओं और आदिय वस्तुओं की ओर क्रिया के कारण मौजूद है। इसके सदस्य सामान्य रक्त, वंष,

पूर्वजो, परिवार, संबंध, जड़ो और एकता से बंधे होते है। उपकरणात्मक दृष्टिकोण विश्वास करता है कि अपनी नृजातीय पहचान को राजनीतिक या आर्थिक कारणों से लाभ पाने के लिए बदल सकता है। नृजातियता का आधुनिकीकरण के प्रभावों के कारण नृजातीय समूह में भौतिक निष्ठा के लिए लगाव में कमी आयेगी। पहचान समूह अस्थायी घटना है।

4) भारत ने विभिन्न प्रमुख नृजातीय आंदोलनों को देखा है। कश्मीर, पंजाब, उत्तर-पूर्वी राज्यों में नृजातीय आंदोलनो और बोडो नृजातीय आंदोलन अलग राज्य के दर्जे की मॉग के द्वारा एक अलग नृजातीय पहचान का निर्माण कर रहे है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Brass, Paul. 1991. *Ethnicity and Nationalism: Theory and Comparison*. New Delhi: Sage.

Chandra Bipan 1999. *Communalism in Modem India.* New Delhi: *Vikas Publishing House*.

Das, Veena. 1990. 'Introduction', in Veena Das, (ed.), *Mirror of Violence: Communities, Riots and Survivors in South Asia*. Delhi: Oxford Univ. Press.

Gupta, Dipankar. (1990). The Indispensable Centre: Ethnicity and Politics in the Indian Nation State. *Journal of Contemporary Asia*, vol 20, 521-38.

Kothari, Rajni. 1988. *State against Democracy: In Search of Humane Governance*. Delhi: Ajanta.

T.K. Oommen, (ed.), *Nation and National Identity in South Asia*. New Delhi: Orient Longman.

इकाई 8 भारत में कृषक आंदोलन*

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 भारत में कृषक और कृषक आंदोलनों की अवधारणा

- 8.2.1 कृषक
- 8.2.2 भारत में कृषक और जाति अंतराफलक
- 8.2.3 भारतीय संदर्भ में कृषक आंदोलन
- 8.2.4 उग्र और सुधारवादी आंदोलन

8.3 भारत में कृषक आंदोलनों के चरण

8.4 भारत में उग्र कृषक आंदोलन

- 8.4.1 1855 का संथाल विद्रोह
- 8.4.2 1875 का मराठा विद्रोह
- 8.4.3 चम्पारण सत्याग्रह (1917-18)
- 8.4.4 मालाबार में मोपला विद्रोह (1921)
- 8.4.5 बंगाल में तेभागा आंदोलन (1946-47)
- 8.4.6 तेलंगाना आंदोलन (1946-52)
- 8.4.7 पश्चिम बंगाल में नक्सली आंदोलन (1967-71)

8.5 समकालीन भारत में कृषिक संरचना के बदलते प्रतिमान और कृषक आंदोलन

8.6 सारांश

8.7 संदर्भ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझने में सक्षम होने चाहिए :

- कृषक और कृषक आंदोलन को
- भारत में कृषक आंदोलनों का चरणों में वर्गीकरण को
- भारत में उग्र आंदोलनों की उत्पत्ति को

8.1 प्रस्तावना

सामाजिक आंदोलन सामाजिक प्रक्रियाएँ है और सामाजिक प्रगति का भाग है। इन्हें व्यापक तौर पर निरंतर संगठित या सामूहिक प्रयासों के रूप में माना जाता है जिनका उद्देश्य विचारों, विश्वासों, मूल्यों, व्यवहारों, संबंधों और समाज में मुख्य संस्थाओं में परिवर्तन या सामाजिक प्रबंधों में किसी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना है (एच.ब्लूमर 1951; हबर्ले 1972; गेसफील्ड 1971)। सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति विद्यमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रबंधों के विरूद्ध सामूहिक असंतोष की अभिव्यक्ति के रूप में होती है।

* यह इकाई सोमा रॉय द्वारा लिखित है।

हालांकि सामूहिक प्रयास समय और स्थान के साथ बदलते हैं। महत्वपूर्ण घटक जैसे विचारधारा, संगठन, उद्देश्य और नेतृत्व किसी भी सामाजिक आंदोलन में अलग-अलग मात्रा में भूमिका निभाते हैं (सिंघरॉय)।

भारत में कृषक आंदोलनों को मुख्यतः दो प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वो आंदोलन है जो गरीब, छोटे और हाषिये (सीमांत) के कृषक से संबंधित है जिनकी आर्थिक स्थिति और जीवनयापन मुख्य रूप से कृषि से संबंधित है इन आंदोलनों को कृषक आंदोलन कहते हैं। दूसरी श्रेणी अधिक सम्पन्न कृषकों की है जो कृषि से पर्याप्त अतिरिक्त भाग का उत्पादन कर सकते हैं।

8.2 भारत में कृषक और कृषक आंदोलनों की अवधारणा

8.2.1 कृषक

सामाजिक वैज्ञानिकों ने मानव समाज में मोटे तौर पर किसानों की अधीनस्थ, सीमांत और दलित स्थिति को रेखांकित किया है। समाजशास्त्रीय और मानवविज्ञान संबंधी साहित्य में कृषकों को व्यापक तौर पर सांस्कृतिक रूप से अव्यवस्थित, बहुत से लोगों की ठोस परम्परा, अचिंतनशील, अपरिष्कृत और गैर-साहित्यिक जो ''लघु परम्परा'' (रेडफील्ड 1956) के ताने-बाने का निर्माण करने वाले, अधुरे और एक 'भाग संस्कृतियों के साथ भाग समाज' (क्रोबर 1948) की तरह से वर्णित किया जाता है। राजनीतिक रूप से वे दलित स्थिति को ग्रहण किए हुए और बाहरी लोगों के वर्चस्व के अधीन (शानिन 1984), असंगठित और संगठित सामूहिक कार्यों के लिए ज्ञान से वंचित होते हैं (वुल्फ 1984: 264-65)। आर्थिक संदर्भ में, वे अपने स्वयं के उपभोग के लिए छोटे उत्पादकों (रेडफिल्ड 1956), निर्वाह-कृषकों (फिर्थ 1946) के रूप में पहचाने जाते हैं जो मुख्य रूप से परिवार की आवश्यकता के लिए उत्पादन करते हैं ना कि मुनाफे के लिए (चायनोव 1966)। ऐतिहासिक रूप से, समाज में कृषकों को अधीनस्थ और शोषण के चरम स्वरूपों का हमेशा खामियाजा भुगतना पड़ा है। हालांकि उनके अस्तित्व की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक स्थिति ने सामाजिक परिवर्तन और रूपांतरण में बड़े पैमाने पर कृषक-वर्ग की भूमिकाओं को आकार दिया है।

8.2.2 भारत में कृषक और जाति अंतराफलक

भारत में, 'कृषक' शब्द अस्पष्ट (अनेकार्थी) है और विभिन्न लेखकों द्वारा अलग-अलग या अलग-अलग अध्ययनों में एक ही लेखक द्वारा अलग-अलग उपयोग किया जाता है। एक ओर, यह उन किसानों के लिए प्रयोग होता है जो मुख्य रूप से परिवार के श्रम द्वारा संचालित छोटी जोत के साथ, सजातीय है और दूसरी ओर इसमें वे सभी शामिल हैं जो भूमिहीन मजदूरों के साथ-साथ पर्यवेक्षी कृषक सहित भूमि पर निर्भर है (शाह 2004)। भारत में कृषक मुख्यतः भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, बटाईदारों, किरायेदारों, गरीब कारीगरों और छोटे व सीमांत किसानों के विशाल जनसमूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका सामाजिक रूप से वंचित जैसे अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति, अन्य पिछड़े वर्ग और महिलाओं के साथ एक करीबी सामाजिक अंतःपृष्ठ (जुड़ाव) है। ग्रामीण भारत में किसान-वर्ग के मूल से शब्द के वास्तविक अर्थ में वर्ण संस्तरण की तथा-कथित ''बाह्य जातियाँ'' हैं। स्थानीय भाषा में, कृषक ''किसान'', ''कृषक'', ''रोयतु'', ''चाशी'' आदि शब्दों के द्वारा बुलाए जाते हैं, कम या ज्यादा उन किसानों को इंगित करता है जो अपने स्वयं के श्रम से जमीन जोतते हैं और वो श्रेणियाँ भी जो खेतिहर मजदूर है जैसे 'अधिअर'', एवं ''बागचाशी'' (बटाईदार व

किरायेदार) और ''मजदूर'', ''मजूर'', ''कोल्ली'', ''पैत'', कृषि'', ''श्रमिक'' आदि। ये शब्द भारतीय समाज में किसान-वर्ग की अधिकारहीन (सीमांत) और निम्न प्रस्थिति को दर्शाने के लिए विशिष्ट सांस्कृतिक अर्थों का संकेत देते हैं। इस प्रकार, कृषक सामाजिक और आर्थिक रूप से सीमांत (अधिकारहीन), सांस्कृतिक रूप से अधीन (कुचले हुए) और राजनीतिक रूप से अशक्त (बिना शक्ति वाले) सामाजिक समूह है जो जीवन निर्वाह करने के लिए भूमि से जुड़े होते है (सिंघरॉय 1992: 21-231)।

8.2.3 भारतीय संदर्भ में कृषक आंदोलन

विद्वानों (राव 1989; धनागरे 1976; मुखर्जी 1979) ने कृषक आंदोलनों को सामाजिक आंदोलनों के अलग प्रकार के रूप में देखा है और उत्पादन के संगठनों में परिवर्तनों और वर्ग संघर्ष के साथ इनके संबंध (संलग्नता) के संदर्भ में इनका विश्लेषण करने का प्रयास किया है। व्यवहारिक स्तर पर, एक कृषक आंदोलन को स्वामित्व के प्रतिमानों, भूमि के नियंत्रण व प्रयोग, कृषि उत्पादों की हिस्सेदारी, वेतन संरचना, ऋण और संस्थागत सहायता प्रणाली में तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन के दूसरे पहलूओं, जिन्होंने कृषि समाज में उन्हें वषीभूत कर लिया है, में परिवर्तन लाने के लिए कृषक-वर्ग (निर्वाह और छोटे उत्पादक, किरायेदार, बटाईदार और कृषि मजदूर) के संगठित और सामूहिक प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है (सिंघारॉय 1992 : 21-231)।

पूर्व-आधुनिक भारत में कृषक विद्रोह पर शायद ही कोई साहित्य या उदाहरण है। विद्वान भारतीय गाँवों में प्रचलित पारम्परिक सामाजिक संरचना को इसका श्रेय देते है यह जाति व्यवस्था के माध्यम से आयोजित की गयी थी और विभिन्न समूहों के मध्य सभी सामाजिक गतिविधियों व संबंधों के लिए ढाँचा प्रदान करती थी जिसने निम्न जातियों को सामाजिक व्यवस्था में उनका स्थान स्वीकारने को प्रेरित किया है। इसने केन्द्र सरकार को भी बड़े पैमाने पर क्षुद्र (सतही) बना दिया है और इस प्रकार किसान विरोध की बड़े पैमाने पर किसान विद्रोह का स्वरूप बनने की संभावना कम थी। हालाँकि, यह काफी हद तक स्वीकार किया जाता है कि एक विशेष समय पर, एक विशेष वर्ग की क्रान्तिकारी क्षमता बड़े पैमाने पर किसी दिए गए समाज में शक्ति एकत्रीकरण और वर्ग गठबन्धन (संबंध) पर टिकी होती है और भारत में कृषक-वर्ग कोई अपवाद नहीं है (शाह 2004)। कृषि में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन ने पारम्परिक कृषि संबंधों में बाधा उत्पन्न की थी जिसके कारण किसान अशांति भी हुई। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत, भूमि एक विपणन (बिक्री) योग्य वस्तु बन गई और उन्नीसवीं सदी के अंत में व्यवसायिक कृषि का विकास हुआ।

भारतीय कृषक-वर्ग का दरिद्रीकरण औपनिवेशिक काल के दौरान कृषि संरचना के रूपांतरण का परिणाम था। जिसके निम्न कारण थे:

अ) औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ

ब) हस्तशिल्प की बर्बादी के परिणामस्वरूप भूमि की अति संकुलता

स) नयी भूमि राजस्व व्यवस्था

द) औपनिवेशिक प्रशासन और न्याय व्यवस्था

जमींदार क्षेत्रों में कृषक उच्च किरायों, अवैध उगाही, स्वेच्छित (मनमाने) निष्कासन और अवैतनिक श्रम से पीड़ित थे। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में, सरकार खुद ही बहुत अधिक भूमि राजस्व वसूलती थी। अत्यधिक बोझ से दबे हुए किसान, आजीविका के अपने एकमात्र स्रोत के खोने

के डर से, अक्सर स्थानीय साहूकार से संपर्क करते थे जो उधार लिए पैसों पर ब्याज की उच्च दरों को लगाकर किसान की परेशानियों का शोषण करते थे। अक्सर, किसानों को अपनी जमीन और मवेशियों को गिरवी रखना पड़ता था। कभी-कभी साहूकार गिरवी रखी हुई चीजों को जब्त कर लेता था। धीरे-धीरे, बड़े क्षेत्रों पर, वास्तविक किसान कच्चे काश्तकारों, बटाईदारों और भूमिहीन मजदूरों की स्थिति तक आ गए थे। कृषक अक्सर शोषण का विरोध करते थे और जल्दी ही उन्हें अहसास हुआ कि उनका सच्चा शत्रु औपनिवेशिक राज्य था। 19वीं सदी के अन्तिम दशक के दौरान आर्थिक अवसाद (मंदी) के साथ अकाल की आवधिक (नियत काल में) पुनरावृत्ति से आगे चलकर ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति और बिगड़ गयी और परिणामस्वरूप कई किसान विद्रोह हुए।

8.2.4 उग्र और सुधारवादी आंदोलन

कृषक आंदोलनों को व्यापक रूप से उग्र या सुधारवादी के रूप में वगीकृत कर सकते है जो विचारधारा के साथ उनके विशेष संयोजन (संबंध), समूह जुटाने (लामबंदी) के स्वरूप और परिवर्तन के प्रति अभिविन्यास (नीति) पर निर्भर करता है। उग्र आंदोलन वो है जो गैर-संस्थागत जन लामबंदी का उपयोग करते हैं, सामाजिक संरचना में उग्र परिवर्तन की एक विचारधारा द्वारा निर्देशित होते है। हालांकि ये आन्दोलन आमतौर पर अल्प-कालिक होते है और वे एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैल सकते हैं। इसके विपरित, एक सुधारवादी कृषक आंदोलन संस्थात्मक जन लामबंदी का उपयोग करते है, क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की एक विचारधारा द्वारा निर्देशित होते है और एक लम्बे जीवनकाल का प्रदर्शन करते है। हालांकि, कृषक आंदोलन विवेकपूर्ण रूप से उग्र या सुधारवादी नहीं है; बल्कि एक समय अवधि के दौरान एक दूसरे का विस्तार हो सकता है (सिंघारॉय 1992 : 21-23)।

8.3 भारत में कृषक आंदोलन के चरण

हालाँकि, विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रयोग की गयी विभिन्न वर्गीकरण प्रणाली हो सकती है, परन्तु विश्लेषण के लिए भारत में कृषक आंदोलनों को काल के आधार पर व्यापक रूप से तीन भिन्न-भिन्न समय काल में वर्गीकृत किया जा सकता है। (मेहता 1965 : 14-16)

1) प्रारम्भिक चरण (1857-1921) : उचित नेतृत्व के अभाव में कृषक आंदोलनों की छुट-पुट (बहुत कम) वृद्धि के द्वारा चित्रित।

2) द्वितीय चरण (1923-1946) : वर्ग चेतना कृषक संगठनों की उत्पत्ति द्वारा चिन्हित।

3) स्वतंत्रता-पश्चात् चरण : ग्रामीण भारत की कार्यशील जनता की किसी भी मूलभूत समस्या के समाधान में सत्तारूढ़ पार्टी की असफलता के कारण इस युग में कृषि आंदोलनों की निर्बाध निरंतरता देखी गयी।

प्रारम्भिक चरण

इस काल के दौरान देश के विभिन्न भागों में स्वैच्छिक कृषक विद्रोह की एक श्रंष्खला के लिए मुख्य कारण जमींदारों या भू-स्वामियों की अत्यधिक मनमानी के साथ-साथ भूमि राजस्व की उच्च दर थी। आर्थिक मंदी और अकाल की आवधिक (नियत काल में) पुनरावृत्ति ने इस काल के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति को बिगाड़ दिया जिसके कारण कई कृषक आंदोलन हुए। इस चरण के मुख्य कृषक आंदोलन हैं:

- 1855 का संथाल विद्रोह

- 1875 का मराठा विद्रोह
- बंगाल के जोतदारों (किरायेदारों) का संघर्ष (1870-85)
- अवध विद्रोह
- 19वीं सदी के अन्तिम दशक में पंजाब के किसानों के संघर्ष
- चम्पारण सत्याग्रह (1917-18)
- खेड़ा सत्याग्रह (1918)
- मालाबार में मोपला विद्रोह (1921)

चम्पारण और खेड़ा प्रमुख आंदोलन थे जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा महात्मा गांधी के नेतृत्व में हुए।

द्वितीय चरण

1917-18 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा शुरू किये गए कृषक आंदोलन भूमि राजस्व की अत्यधिक दर के खिलाफ राहत पाने के लिए प्रतिबंधित थे और जमींदारों के खिलाफ किसी भी मामले में निर्देशित नहीं थे (देसाई, 1979 : 744)। जमींदारों और भू-स्वामियों के हितों की रक्षा करने की कांग्रेस की नीति ने ग्रामीण भारत में किसानों के स्वतंत्र वर्ग संगठनों की उत्पत्ति की। इसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में किसान संगठन अस्तित्व में आये।

बिहार में स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में किसान सभा आंदोलन की शुरुआत हुई थी उन्होंने 1929 में बिहार प्रोवियनसल किसान सभा (BPKS) का निर्माण किया ताकि जमींदारी के खिलाफ किसान शिकायत को उठाया जा सके और उनके अधिभोग (कब्जा) अधिकारों पर हमला किया जा सके। धीरे-धीरे कृषक आंदोलन तेज हुआ और पूरे भारत में फैल गया। 1927 में आंध्र प्रदेश में इसने जमींदारी जुल्म के खिलाफ समझौता विरोधी आंदोलन चलाया। 1927 में दक्षिण भारत में दमनकारी वन कानून के खिलाफ भी एक शक्तिशाली संघर्ष की शुरुआत की गई। जमींदारों के उत्पीड़न के खिलाफ इसी तरह के आंदोलन उत्तर प्रदेश और भारत के दूसरे भागों में भी हुए (बासवाराजा, 2015)

किसान मोर्चे पर इन सभी क्रान्तिकारी घटनाओं का समापन अप्रैल 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अखिल भारत किसान सभा (ऑल इण्डिया किसान सभा - AIKS) के निर्माण से हुआ तथा स्वामी सहजानंद सरस्वती पहले अध्यक्ष के रूप में चुने गए। अखिल भारत किसान सभा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर और बाहर कट्टरपंथी (उग्र) ताकतों से बनी थी और कांग्रेस समाजवादी दल और बाद में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भी सहयोग दिया गया था (उक्त 2015)

साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रमुख प्रभावी थे जिन्होंने किसानों को जुटाया था। अखिल भारत किसान सभा के निर्माण के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (CPI) ने किसान-वर्ग के साथ गंभीर जुड़ाव शुरू कर दिया था। CPI ने किसान मोर्चे पर अपनी सदस्यता बढ़ा ली थी और ग्रामीण इलाकों में सबसे क्रान्तिकारी संघर्षों के लिए मंच तैयार कर दिया था। CPI ने जमीनी स्तर पर और ग्रामीण क्षेत्रों में किसान सभा के माध्यम से कार्य करना स्वीकार किया जो प्रारम्भ में वर्ग आधारित संगठन नहीं थी और अमीर किसानों का भी अच्छी तरह से इसमें प्रतिनिधित्व था। 1941-43 में अखिल

भारत किसान सभा CPI के नेतृत्व में चली गयी जिसने स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में किसान सभा को ग्रामीण गरीबों के संगठन के रूप में बनाने का प्रयास किया और इस प्रकार अमीर और मध्यम किसानों को अलग करने की कोशिश की। 1944-45 तक CPI का किसान सभा के ऊपर सम्पूर्ण नियंत्रण हो गया (धनागरे, 1980)। इस प्रकार, किसान सभा गरीब कृषकों, किरायेदारों (जोतदारों), बटाईदारों और भूमिहीन कृषि श्रमिकों का एक संगठन बन गयी। यह इस आधार के साथ है कि स्वतंत्रता-पूर्व काल में ग्रामीण संघर्षों का यह प्रारम्भ और नेतृत्व कर सकता है। बंगाल में तेभागा आंदोलन (1946-47) और पुराने हैदराबाद राज्य में तेलंगाना आंदोलन (1946-51) का नेतृत्व कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) ने किया था (मेहता, 1965)।

स्वतंत्रता पश्चात् चरण

स्वतंत्र भारत में यह वामपंथी दल ही है, जो कृषकों के मुख्य संगठक (आयोजक) रहे है। कृषि पारिश्रमिक (वेतन) में वृद्धि, जोतने के लिए भूमि आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर लामबन्दी हुई और मुख्य लक्ष्य ग्रामीण अमीर रहे है जिनकी दया पर भूमिहीन श्रमिक और सीमांत किसान निर्भर रहते है। प्रारम्भ में CPI को उम्मीद थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि अधिकार प्रतिमान को परिवर्तित करने के लिए कांग्रेस सरकार क्रांतिकारी कार्यक्रमों को लायेगी। जब से स्थापित कम्यूनिस्टों ने संघर्ष के संसदीय स्वरूप को अपनाया है, तब से 1967 में नक्सलवादी विद्रोह तक ग्रामीण क्षेत्रों में स्वतंत्र भारत ने कोई मुख्य सशस्त्र विद्रोह नहीं देखा है।

भारत में पूँजीवादी खेती को बढ़ावा देने के लिए भूमि सुधार और सामुदायिक कार्यक्रमों ने केवल कृषि परेशानियों को तीव्र किया है। सरकार ना केवल घाटे वाले किसानों के बड़े हिस्से और कृषि सर्वहारा को राहत देने में असफल रही, बल्कि इसकी कृषि नीति ने उनके दुखों को बढ़ा दिया। इसका परिणाम आजादी के बाद भी कृषि समाज में असंतोष था और इसने देश के विभिन्न हिस्सों में कृषक आंदोलन की एक श्रंष्खला को शुरू किया (राव, 2015)।

मुख्यधारा के दोनों कम्युनिस्ट दलों, CPI और CPI(M) ने संबंधित वर्गों को जुटाने के लिए किसान सभाओं और कृषि मजदूरों के संगठनों जैसे कृषक संगठनों का निर्माण किया। उन्होंने केरल, पश्चिमी बंगाल व त्रिपुरा और दूसरे कुछ राज्यों में सीमित सफलता प्राप्त की। इसी तरह से CPI(M-L) ने अपना कृषक मोर्चा, बिहार प्रदेश किसान सभा (BPKS) का गठन किया, जो अब बिहार और झारखण्ड के बहुत से जिलों में सक्रिय है। यह ग्रामीण गरीबों और मध्यम कृषकों को भी उन मुद्दों को उठाकर संगठित कर रही है जो उनको प्रभावित करते है। गैर-संसदीय वामपंथी, जैसे मार्क्सवादी समन्वय समिति (Marxist Coordination Committee-MCC) या पीपल वार ग्रुप (Peoples War Group- PWG) आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में गरीब ग्रामीणों को एकजुट कर रहे है और ग्रामीण गरीबों के सवालों का समाधान करने के लिए एक रणनीति के रूप में हिंसा का उपयोग कर रहे हैं (सिंघारॉय, 1992)

गैर-कम्युनिस्ट (साम्यवादी) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (PSP) स्वतंत्रता पश्चात् काल में 1960 के दशक तक उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में कृषकों से संबंधित कुछ आंदोलनों में सम्मिलित थी। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, एक गैर-मार्क्सवादी दल, ने कृषि सर्वहारा के कारणों को जोड़ दिया और अपने संघर्ष को सम्पूर्ण भारत के स्तर पर ले गए। दक्षिण भारत में आंदोलनों को किरायेदार (जोतदार) आंदोलन के रूप में जाना जाता

है, जैसे 1950-51 के दौरान कोगाडू सत्याग्राह कर्नाटक में और 1950-70 के दौरान उत्तरा-कन्नड आदि जबरदस्ती निष्कासन, ऋण और किरायों जैसे मुद्दों पर हुए है। 1960 के दशक में चरण सिंह उत्तरी भारत के गंगा क्षेत्र में किसानों के मसीहा के रूप में उभरे जैसा कि उन्होंने विकास की नेहरूवादी और गांधीवादी रणनीति के सम्मिश्रण का पक्ष लिया (बासबाराजा, 2015)

पंजाब में केथबारी जमींदारी यूनियन 1972 में अस्तित्व में आयी जिसने 1980 तक छः बड़े संघर्षों का नेतृत्व किया। 1966 में नारायण स्वामी नायडू के नेतृत्व में तमिलनाडु व्यवसिगल संगम (TNVS) का शुभारम्भ हुआ जिसने 1970 और 1980 के दशकों के मध्य चार महत्वपूर्ण आंदोलन कार्यान्वित किया। शरद जोशी के नेतृत्व में महाराष्ट्रा सेकारी संघ का गठन हुआ और कर्नाटक राज्य रयोता संघ (KRRS) के निर्माण जो प्रो. एम.ड़ी. नजूडास्वामी के नेतृत्व में हुआ ने भारतीय संघ के क्षेत्रों में बड़े किसान आंदोलनों का वातावरण पैदा कर दिया (मेहता, 1965)।

अब हम औपनिवेशिक के साथ-साथ औपनिवेशिक-पश्चात् भारत में कुछ महत्वपूर्ण उग्र कृषक आंदोलनों पर संक्षिप्त में चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) भारतीय संदर्भ में कृषक आंदोलनों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में कृषक आंदोलनों के विभिन्न चरणों पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 भारत में उग्र कृषक आंदोलन

8.4.1 1855 का संथाल विद्रोह

संथाल विद्रोह को संथाल आवेष के नाम से भी जाना जाता है, बहुत से विद्वानों द्वारा जनजातीय आंदोलन के रूप में वगीकृत है, यह आज के झारखण्ड और पश्चिमी बंगाल (राजमहल पहाड़ियों की तलहटी में) हुआ था। यह ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के विरूद्ध एक आंदोलन था और उन जमींदारों के विरूद्ध भी, जिन्हें अंग्रेजों ने भूमि का स्वामीत्व दे दिया था जिसे परम्परागत रूप से कृषक जोतते थे और उन पर अत्यधिक किराया थोप

दिया था। यह विद्रोह उन साहूकारों के खिलाफ भी था जो उधार लिए गए पैसों पर अधिक ब्याज लगाते थे और उन सरकारी अधिकारियों के खिलाफ भी था जो निरंकुश थे संथालों की परेशानियों के प्रति उदासीन थे। संथाल ऋण और कर न चुका पाने के कारण अपनी भूमि और बस्तियों में बेदखल हो रहे थे। इस प्रकार, वे अपनी ही भूमि पर किरायेदार (जोतदार) या बंधुआ मजदूर भी बन गए थे (सारदा 2017, वेंकेटशवारलू, 2015)।

विद्रोह जुलाई, 1855 में फूट पड़ा जब भोगाडीह गाँव में हजारों की संख्या में संथाल इकट्ठा हुए और अपने आप को स्वतंत्र घोषित कर दिया। आंदोलन का आयोजन और नेतृत्व दो भाईयों सिद्धू और कान्हू द्वारा किया गया जो दावा करते थे कि अधिकारियों के 'झूलुम' और व्यापारियों के कपट को खत्म करने के लिए उन्हें अलौकिक शक्ति से संदेश प्राप्त हुआ है। उन्होंने जमींदारों और साहूकारों को बाहर निकालने के लिए उन पर हमला कर दिया था। इसने अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना और संथालों के मध्य संघर्ष की एक श्रंखला शुरू कर दी थी। संथाल अपने पारम्परिक हथियारों धनुष, तीर, कुल्हाड़ी और तलवारों से बहादुरी के साथ लड़े परन्तु वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की टुकड़ियों द्वारा प्रयोग किये गए परिष्कृत (उच्च) आग्नेयास्त्रों (हथियारों) के खिलाफ एक मौके पर भी नहीं खड़े रह सके और विद्रोह को 1856 की शुरुआत में ही निर्दयता से दबा दिया गया (उक्त 2017, 2015)।

8.4.2 1875 का मराठा विद्रोह

रैयतबाड़ी क्षेत्र में विशिष्ट दशाओं ने 1875 में पूना और अहमदनगर जिलों में कृषक विद्रोहों को पैदा किया। बड़े राजस्व के नियमित प्रवाह की चाह में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रैयतों पर जमीन के लिए अत्यधिक कर लगाये जिनका नगदी में ही भुगतान किया जाना था और वो भी अकाल व अन्य दूसरे कारणों की वजह से फसल उत्पादन में अस्थिरता का ध्यान रखे बिना। किसानों ने साहूकारों, जो मुख्यतः बाहरी थे, का रूख कर लिया ताकि राजस्व का भुगतान कर सके। किसान जमानत के रूप में भूमि की पेशकश करते थे और अगर किसान ऋण का भुगतान करने में असफल होता था तो सरकार साहूकार को जमीन देने के पक्ष में थी। इस प्रकार, कृषकों ने अपने आपको साहूकारों के साथ एक शातिर जाल में फंसा पाया जहाँ शोषक और लाभार्थी साहूकार ही था।

1874 में, साहूकारों और कृषकों के बीच बढ़ते तनाव का परिणाम रैयतों (किसानों) द्वारा साहूकारों के विरूद्ध एक सामाजिक बहिष्कार के रूप में आया। रैयतों ने दुकानों से खरीदने से इनकार कर दिया। कोई भी किसान उनके खेतों में खेती नहीं करेगा। नाई, धोबी और मोची उनकी सेवा नहीं करेंगे। यह सामाजिक बहिष्कार पूना, अहमदनगर, शोलापुर और सतारा के गाँवों तक तेजी से फैल गया था। जल्दी ही सामाजिक बहिष्कार साहूकारो के घरों और दुकानों पर व्यवस्थित हमलों के साथ कृषक दंगों में परिवर्तित हो गया था। ऋण अनुबंध और दस्तावेज को जब्त कर लिया गया और सार्वजनिक रूप से जला दिया गया।

सरकार ने साहूकारों की गतिविधियों को न्यायोचित ठहराया और जल्द ही आंदोलनकारी कृषकों के खिलाफ हो गयी तथा अपने दमनकारी गतिविधि का सहारा भी लिया। कृषक सरकार द्वारा भयानक दमन के खिलाफ लम्बे समय तक सामना नहीं कर सके और उन्हें अपने सक्रिय संघर्ष को छोड़ना पड़ा। पूना और अहमद नगर में विद्रोह का सक्रिय चरण केवल तीन सप्ताह तक चला। एक समझौताकारी उपाय के रूप में, 1879 में दक्कन कृषक राहत अधिनियम (दक्कन एग्रीकलच्रिस्ट रीलिफ एक्ट) पारित हुआ (देसाई 1979 : 165)

8.4.3 चम्पराण सत्याग्रह (1917-18)

रासायनिक उद्योग द्वारा कृत्रिम नीले रंजक (रंग) के उत्पादन से बहुत पहले ही, भारतीय कृषक एक पौधा उगा रहे थे, जिसे नील (इण्डिगो) कहा जाता था, जो सूती कपड़ों को नीला करने के लिए रंजक (डाई) पैदा करता था। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में ग्रेट ब्रिटेन में कपड़ा उद्योग में नील रंजक (इण्डिगो डाई) की माँग अत्यधिक थी। इसने नील के व्यापार को एक अत्यधिक लाभ वाला व्यवसाय बना दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बहुत से सेवानिवृत्त अधिकारियों और उभरते युवा अमीरों ने स्थानीय जमींदारों से बिहार और पश्चिमी बंगाल में भूमि अधिग्रहण कर लिया और इस फसल के उत्पादन को बड़े पैमाने पर विस्तारित कर दिया। दमन की व्यवस्था के अन्तर्गत किरायेदार (जोतदार) किसानों को नील की फसल पैदा करने के लिए मजबूर किया गया।

किरायेदार (जोरदार) किसानों को ब्रिटिश बागान मालिकों द्वारा नील के उत्पादन के लिए मजबूर किया गया कि वो अपनी भूमि के एक बीघा के 20 भागों में से 3 भागों पर नील का उत्पादन करें, यह 'तीन कठिया' प्रणाली के नाम से जाना जाता है। बागान मालिकों ने भूमि के सबसे उपजाऊ भागों पर नील की खेती के लिए विवश किया और नील के उत्पादन के लिए बहुत कम कीमत प्रदान की। ब्रिटिश प्रशासन किसानों के तिरस्कार, शारीरिक दुर्व्यवहार और शोषण के प्रति उदासीन था। जब 1897 में दुनिया के बाजार में कृत्रिम नील के आने से नील का बाजार बुरी तरह से प्रभावित हुआ तो बागान मालिकों ने नए तरह का शोषण प्रारम्भ कर दिया। या तो नुकसान को गरीब कृषकों में हस्तांतरित कर दिया जाता था या वे नील के उत्पादन को भूमि के लिए उच्च किराये के रूप में दे सकते थे। नील के शोषण की इस दयनीय स्थिति ने रैयतों (किसानों) को समय समय पर अपने शोषकों के विरूद्ध हिंसात्मक या अन्य तरह से विरोध करने को मजबूर किया परन्तु उन्हें निर्दयता से कुचल दिया जाता था। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा जाँच शुरू की जाती थी, लेकिन बिहार में इनमें से ज्यादातर ढ़कोसला ही साबित हुई।

गाँधीजी इस मुद्दे से 1917 के प्रारम्भ में परिचित हुए। जे.बी.कृपलानी, बाबू बृजकिशोर प्रसाद और बाबू राजेन्द्र प्रसाद जैसी प्रमुख हस्तियाँ उनके साथ आयी और सहायता प्रदान की। गाँधी जी के शान्तिपूर्ण सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा के तरीके अद्भुत परन्तु प्रभावी थे जिनका दलित और गरीब किसान-वर्ग के मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव था। सरकार नरम पड़ गयी और गाँधीजी को बातचीत के लिए बुलाया और नील की खेती करने वाले कृषकों की दुर्दषा की जाँच करने वाली समिति में सदस्य भी बनाया गया। समिति की रिपोर्ट के आधार पर तीन कठिया प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।

हाँलाकि, सिफारिश भी अत्यधिक कर और कृषि श्रमिकों की कम मजदूरी (वेतन) की समस्या का समाधान नहीं कर पायी। यह भारतीय जमींदारों द्वारा किसान-वर्ग के शोषण पर भी शान्त ही रहा।

8.4.4 मालाबार में मोपला विद्राह (1921)

मोपला कृषक आंदोलन की अगस्त 1921 में केरल में मालाबार जिले के किसानों ने योजना बनायी थी। मोपला किरायेदार (जोतदार) मुस्लिम थे और वे हिन्दू भू-स्वामियों व अंग्रेज सरकार के विरूद्ध उत्तेजित थे। मोपला के अभिजन सौदागर और व्यापारी थे परन्तु मोपला के जनसाधारण कृषकों की तरह काम करते थे जो हिन्दू भू-स्वामियों के यहाँ किरायेदार (जोतदार) थे जिन्हें जेनमिस कहा जाता था।

मोपला किरायेदारों (जोतदारों) की प्रमुख शिकायतें थी (i) प्रतिकूल (असुविधाजनक) भूमि अवधि प्रणाली जिसके कारण मोपलाओं को बिना किसी पूर्व सूचना के उनकी भूमि से निकाला जा सकता था, की वजह से असुरक्षा (ii) जेनमिस द्वारा निर्धारित शुल्क का उच्च नवीनकरण (iii) मोपला के लिए उच्च निर्धारित किराया और हिन्दू किरायेदारों (जातदारों) की तुलना में उनका शोषण।

1921 के आंदोलन के लिए प्रेरणा 1920 में मंजेरी में मालाबार जनपद कांग्रेस कमेटी की सभा के साथ मिलनी प्रारम्भ हुई उसने किरायेदारों (जोतदारों) के ध्येय का समर्थन किया और भू-स्वामी व किरायेदारों के संबंधों की नियमितता के लिए कानून की माँग की। इसका अनुसरण करते हुए मोपला किरायेदारों ने एक समिति की स्थापना की जिसकी शाखाएँ पूरे केरल में हो और इस प्रकार मोपला किरायेदारों को एक संगठन के अन्तर्गत ले आये। ठीक इसी समय पर खिलाफल आंदोलन हुआ, जिसमें मोपला ने सक्रिय रूप से भाग लिया लेकिन अंत में भूस्वामियों के विरूद्ध आंदोलन के साथ समाप्त हो गया।

ब्रिटिश सरकार ने 1921 की शुरुआत में खिलाफत सभाओं के विरूद्ध निषेधात्मक आदेशों को जारी कर दिया। अगस्त, 1921 में पुलिस ने एक खिलाफत नेता और बहुत सम्मानित पुजारी (धर्माचार्य) को गिरफ्तार करने के लिए मस्जिद पर छापा मारा। पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर गोलियाँ चला दी जिसमें बहुत से लोग मारे गये। इस वजह से झड़पे हुईं और सरकारी ऑफिसों को तोड़-फोड़ दिया गया, अभिलेखों (रिकार्डों) को जला दिया गया और राजकोष को लूट लिया गया। विद्रोह जल्दी ही सभी मोपला गढ़ों में फैल गया। उत्तेजना (आंदोलन) में मोपला के लक्ष्य अप्रसिद्ध जेनमिस (भूस्वामी), पुलिस स्टेशन, राजकोष व अधिकारी और ब्रिटिश बागान मालिक थे। हालाँकि, सांप्रदायिक रंग के कारण मोपलाओं ने साधारण मालाबार आबादी की सहानुभूति को खो दिया था और मोपला विद्रोही अलग-थलग हो गए थे। ब्रिटिश दमन नहीं रूका और दिसम्बर 1921 तक सभी प्रतिरोध बंद हो गए थे। मोपला की संख्या काफी अधिक थी और लगभग 2400 लोगों ने अपना जीवन खो दिया था (मंडल, 1981)।

8.4.5 बंगाल में तेभागा आंदोलन (1946-47)

तेभागा का शाब्दिक अर्थ है फसल का तीसरा हिस्सा। आंदोलन उत्पादन के हिस्से को कर के रूप में आधे से एक तिहाई देने के लिए था जो परम्परागत रूप से जोतेदार, मध्यस्थ भूस्वामी, को दिया जाता था। आंदोलन उत्तर बंगाल में पैदा हुआ और पूर्वी बंगाल में दिनाजपुर और रंगपुर जिलों को तथा पश्चिमी बंगाल में जलपाईगुरी और मालदा को शामिल कर लिया। यह किसान सभा द्वारा सुनियोजित किया गया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आंदोलन के प्रतिमानों से प्रस्थान (विचलन) को चिन्हित किया (सिंघारॉय, 1992)

यह आंदोलन बटाईदारों (स्थानीय रूप से बरगरदार के नाम से जाने जाते हैं) की बिगड़ती आर्थिक स्थितियों और खुशहाल प्रस्थिति वाले मध्यस्थ भूस्वामियों (जोतेदार के रूप में जाने जाते हैं) की पृष्ठभूमि के खिलाफ उत्पन्न हुआ। बंगाल में लाया गया स्थायी बंदोबस्त 1793 कृषकों और जमींदारों के बीच में बहुत से मध्यस्थों को ले आया था। ये जोतेदार अपनी जमीन को बटाईदारों, जो बरगरदार के नाम से जाने जाते हैं, को किराये पर दे देते थे, जो जमीन को जोतते थे और उत्पादन का आधा हिस्सा जोतेदारों को दे देते थे। बरगरदार भूमि के टुकड़े पर एक निश्चित समय सामान्यतः पाँच वर्षों के लिए केवल अस्थायी अधिकार रखते थे। इसके साथ-साथ ग्रामीण अर्थव्यवस्था का साहूकारों द्वारा भी शोषण था जो

जोतेदारों और कृषक मालिकों (मध्यम किसानों) को उच्च दर पर ऋण देते थे। कृषक मालिक अक्सर अपनी जमीन गँवा देते थे और अपनी ही भूमि के भाग पर बरगरदार या कृषि श्रमिक हो जाते थे जब वे अपना ऋण वापस करने में असफल हो जाते थे (सिंघारॉय, 2005)।

1937 में कृषक प्रजा पार्टी ने पहला लोकप्रिय मंत्रालय बनाया। इसके द्वारा बनाये गये भूमि राजस्व आयोग ने 1940 में सिफारिश की कि ''सभी बरगरदारों को किरायेदारों के रूप में माना जाना चाहिए, कानूनी तौर पर फसलों की जो हिस्सेदारी उनसे वसूली जा सकती है वह आधे के स्थान पर एक-तिहाई होनी चाहिए (भाग-I, 1940 : 69)। सरकार ने इन सिफारिशों को लागू करने में कोई तीव्र इच्छा नहीं दिखाई। इसने अखिल भारत किसान सभा, को अपने कार्यक्रमों को उग्र सुधारवादी बनाने के लिए प्रेरित किया और नवम्बर 1946 में इसकी प्रांतीय शाखा, बंगाल किसान सभा ने बटाईदारों और भूमि जोतने वाले किसान के लिए 'तेभागा' (उत्पादित फसलों का दो तिहाई हिस्सा) के लिए कलकत्ता में एक कानून पारित कर दिया था (उक्त, 1992)।

उत्तरी बंगाल, खास तौर पर दिनाजपुर जिला बंगाल किसान सभा की गतिविधियों का केन्द्र बन गया क्योंकि वहाँ पर भूमि की बटाईदारी प्रणाली अत्यधिक लागू थी। खानपुर गाँव का गरीब कृषक वर्ग, जो मुख्यतः अनुसूचित जातियों (राजवंशी, पोलिया और माली), अनुसूचित जनजातियों (ओराअन, कोलकमार संथाल) और पूर्व-जनजातियाँ (महतो) से बना था ने स्वभाविक रूप से आंदोलन के प्रति प्रतिक्रिया की। प्रमुख आंदोलन कटाई के मौसम के दौरान हुए जब बरगरदारों ने धान के आधे हिस्से को जोतदारों को देने से मना कर दिया और धान को अपने घरों या खोलन (प्रकोष्ठ) में ले गये। एक स्थानीय जोतदार ने बरगरदारों के खिलाफ रिपोर्ट (FIR) लिखा थी। 20 फरवरी 1947 की सुबह पुलिस ने गाँव में प्रवेश किया और कुछ बरगरदारों को गिरफ्तार कर लिया। यह खबर पूरे गाँव में जंगल की आग की तरह फैल गयी, और ढोल नगाड़ों की थाप, शंख बजाते हुए और किसान महिलाओं द्वारा घंटों और बर्तनों को पीटते हुए एक शोरगुल उठाया गया। जल्दी ही गरीब कृषकों और बटाईदारों की एक बड़ी संख्या, पारम्परिक हथियारों के साथ, खानपुर और इसके आसपास के गाँवों से एकत्रित हुई और गिरफ्तार किए गये बटाईदारों को रिहा करने की माँग की। परन्तु पुलिस अडिग थी और 119 राउंड फायर किए, जिसमें 22 प्रदर्शनकारी मारे गए, जिसमें दो महिलाएँ भी शामिल थी और कई सौ घायल हो गये (सिंघारॉय, 2005)।

खानपुर की इस घटना ने बंगाल के ज्यादातर भागों में तेभागा आंदोलन को बहुत तेजी से भड़काया। गरीब कृषकों ने भूस्वामियों के साथ अपने पारंरिक संबंधों की अनदेखी की और भूस्वामियों के साथ अपने उत्पादन का आधा हिस्सा देने से इनकार कर दिया। विरोध, गोलीबारी और हत्या इस आंदोलन का हिस्सा बन गयी थी। औपनिवेशिक शासकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में आतंक के शासन की शुरुआत के द्वारा इस आंदोलन को कुचलने के लिए सभी संभव दमनकारी उपायों का इस्तेमाल किया था और 1947 के मध्य में आखिरकार इस आंदोलन का पतन हो गया। हालांकि, एक हद तक आंदोलन सफल रहा जैसा कि लगभग 40 प्रतिशत बटाईदारों को भूस्वामियों द्वारा तेभागा अधिकार मिल गया था (सिंघारॉय, 2005)।

8.4.6 तेलंगाना आंदोलन (1946-52)

तेलंगाना आंदोलन आंध्र प्रदेश के शासकों और स्थानीय भू-स्वामियों के सामंती शोषण के विरूद्ध लड़ाई थी। इसकी शुरुआत CPI की कृषक शाखा, किसान सभा द्वारा की गई।

1920 के दशक और इसके बाद में निजाम के अधीन हैदराबाद राज्य की कृषक सामाजिक संरचना बहुत ही दमनात्मक थी। दो प्रकार की भूमि अवधि प्रणाली अर्थात् खालसा या दीवानी और जागीरदारी प्रचलित थी। पहले वाली प्रणाली रैयतबाड़ी प्रणाली के समान थी जहाँ पर कृषकों के नाम में पट्टा होता था जो पंजीकृत थे और वास्तविक मालिक षिकमीदार थे। जागीरदार प्रणाली में राजभूमि निजाम के रईसों (कुलीनों) को उनकी सेवा के बदले में प्रदान की जाती थी। कृषकों का सबसे ज्यादा शोषण जागीरदारी प्रणाली के अन्तर्गत हुआ था (उक्त, 2005)।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में, जागीरदार और देशमुख, स्थानीय रूप से डोरा के नाम से जाने जाते थे, स्थानीय स्तर पर अत्यधिक शक्ति रखते थे। वे ऊँची पदवी एवं साहूकारों व ग्राम अधिकारियों के साथ मध्यस्थ भूस्वामी थे और मुख्यतः उच्च जाति या प्रभावशाली मुस्लिम समुदाय पृष्ठभूमि से थे। उनकी विशेषाधिकार प्राप्त आर्थिक और राजनीतिक प्रस्थिति के कारण वे गरीब किसान-वर्ग को आसानी से अतिरिक्त -आर्थिक दबाव के अधीन कर सकते थे जिसे खेती (बलात् श्रम) के रूप में जाना जाता है। इस व्यवस्था के अर्न्तगत जागीरदार और देशमुख एक परिवार को अपनी भूमि पर कृषि करने और दूसरे कार्यों को कराने के लिए बाधा कर सकते थे जो पीढ़ी पर पीढ़ी तक जारी रहेगा। एक प्रणाली जिसे भगेला के नाम से भी जाना जाता है, प्रचलित थी जिसके अंतर्गत किरायेदार जिसने भूस्वामी से ऋण ले रखा है ऋण के चुकाने तक भूस्वामी की सेवा करेगा और वे पीढ़ियों तक सेवा करेंगे चूंकि बहीखाता (रिकॉर्ड) जमींदारों द्वारा बनाया गया था जिसमें उन्हें ऋणी बनाये रखने के लिए हेरफेर किया जाता था (सिंघारॉय, 2005)।

कम्युनिस्टों के नेतृत्व में आंदोलन 1946 में नलगोंडा जिले में शुरू हुआ जो पड़ोसी जिलों वारंगल और बीदर में भी फैल गया और अन्त में पूरे तेलंगाना क्षेत्र को अपने में समाहित कर लिया। आंदोलन ग्रामीण सामंती अभिजात वर्ग द्वारा गैर कानूनी और अत्यधिक संग्रह के विरूद्ध था और इस प्रकार आंदोलन पूरे कृषक वर्ग के साथ संबंधित है। मांगों में किसानों के कर्ज का निरस्तीकरण शामिल था। 1948 में आंदोलन ने क्रान्तिकारी मोड़ ले लिया जब कृषक सेना में बदल गए और छापामार युद्ध लड़ने लगे। 2,000 से अधिक गाँवों ने उनकी 'लोगों की समिति' स्थापित कर ली। इन समीतियों ने भूमि पर अधिकार कर लिया, अपनी सेना और खुद का प्रशासन बनाए रखा (मेहता, 1979)। रजाकारों, एक निजी रक्षक योद्धा, का आयोजन कासिम रजवी द्वारा निजाम के समर्थन के लिए किया, जिसने किसानों के सशस्त्र विद्रोह को निर्दयता के साथ कुचलना शुरू कर दिया था। सशस्त्र विरोध 1950 तक चला और अन्त में भारतीय सेना द्वारा दबा दिया गया अंत में आंदोलन 1951 में रोक दिया गया।

आंदोलन की भारी कीमत चुकानी पड़ी। 4000 से ज्यादा कम्युनिस्टों और कृषक विद्रोहियों की मृत्यु हो गयी; 10,000 से ज्यादा कम्युनिस्ट संवर्ग (दूसरों का नेतृत्व करने वाला छोटा समूह-कैडर) और लोगों के सेनानियों को 3-4 साल के समय के लिए निरोध (नजरबंदी) षिविरों और जेलों में भेज दिया गया (सुंदरैया, 1985 : 4)।

8.4.7 पश्चिम बंगाल में नक्सली आंदोलन (1967-71)

औपनिवेशिक पश्चात् भारत में, मई 1967 में पश्चिम बंगाल के उत्तरी भाग के दार्जलिंग जिले के नक्सलबाड़ी थाने में हुआ कृषक विद्रोह प्रमुख बगावतों में से एक रहा है जो भारत ने आज़ादी पश्चात देखा है। यह जोतदारों के द्वारा बड़े स्तर पर बटाईदारों को बेदखल

करने के विरोध में था जिसके परिणाम स्वरूप गरीब कृषकों की स्थिति बिगड़ रही थी और सरकार भूमि सुधार कानून को ठीक ढंग से लागू नहीं करा पा रही थी।

स्वतंत्रता के पश्चात्, पश्चिम बंगाल की सरकार ने जमींदारी और दूसरी मध्यस्थ व्यवस्थाओं को खत्म करने के लिए पश्चिम बंगाल एस्टेट अधिग्रहण अधिनियम, 1953 (वेस्ट बंगाल एस्टेट एक्वीजीशन एक्ट) लागू किया गया। पश्चिम बंगाल भूमि सुधार अधिनियम, 1955 को जोत (भूमि) रखने की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए, बटाईदार के लिए उत्पादन का 60 प्रतिशत निश्चित करने और बटाईदारों की बेदखली पर प्रतिबंध लगाने के लिए लागू किया गया। हालांकि, प्रावधानों के अप्रभावी कार्यान्वयन के कारण किरायेदारों और बटाईदारों की बेदखली फिर भी होती रही। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक असुरक्षा और बेरोजगारी के साथ-साथ कृषकों की तेजी से नीचे की ओर गतिशीलता हुई। बटाईदारों का अनुपात 1952-53 में ग्रामीण परिवारों के 16 प्रतिशत से घटकर 1961-62 में 2.9 प्रतिशत हो गया। हालांकि भूमि हस्तांतरण के कारण सीमांत और छोटे किसानों का अनुपात ग्रामीण जनसंख्या में बढ़ गया था, गरीब कृषक-वर्ग जीवन यापन की असुरक्षा के कारण कठिन दशा में था। इसको 1961 और 1971 के जनगणना आकड़ों से देखा जा सकता है कि यह कृषि श्रमिकों की 1961 में 15.3 प्रतिशत से 1971 में 26.2 प्रतिशत की अभूतपूर्व वृद्धि और इसी समान अवधि के दौरान कृषकों की श्रेणी में 38.5 प्रतिशत से 32 प्रतिशत की गिरावट को दर्शाता है (भारत की जनगणना 1961,1971)।

1960 के दशक की शुरुआत से वामपंथी राजनीतिक दलों ने कृषक वर्ग की नक्सलबाड़ी क्षेत्र में लामबंदी (संग्रहण) शुरू कर दी थी जब नक्सलबाड़ी क्षेत्र के जमींदारों (भू-स्वामियों) ने बटाईदारों को बड़े स्तर पर बेदखल करना प्रारम्भ कर दिया था। पश्चिम बंगाल में नई सरकार बनने के बाद जिसमें CPI(M) मुख्य सहयोगी थी, अप्रैल 1967 में कृषि क्रान्ति पैदा हुई। इस आंदोलन के दो अत्यधिक प्रसिद्ध नेता कानू सनयाल और चारू मजूमदार थे जिन्होंने CPI(M) से निष्कासित कर दिये जाने के बाद CPI(M) का गठन किया। आंदोलन अपने चरम पर 1967 में था जब कृषकों द्वारा जबरन कब्जे, चावल व धान की लूट और डराना व मारपीट हुआ। आंदोलन के नेताओं ने दावा किया कि सिलीगुड़ी उपमण्डल में लगभग 90 प्रतिशत कृषकों ने आंदोलन को सहयोग दिया। आंदोलन तब रूक गया जब, केन्द्र सरकार के दबाव में, पश्चिम बंगाल पुलिस क्षेत्र में दाखिल हुई और क्षेत्र को नियंत्रण में ले लिया। बाद में भी विध्वंस की रणनीति के तहत जमींदारों को मारने के मामलों को अंजाम दिया गया।

कानू सनयाल द्वारा कराये गये विद्रोह के कार्यों में कृषकों को भूमि का पुनःवितरण जिसे वे जोत रहे थे परन्तु मालिक नहीं थे, सभी कानूनी अनुबंधों और प्रपत्रों को जलाना, कृषकों और साहूकारों के बीच सभी असमान अनुबंधों को अमान्य घोषित करना, जमा किए हुए चावल को जब्त करना और कृषकों में बाँटना, सभी जोतेदारों को मौत की सजा देना आदि अन्य विषयों में शामिल थे।

बाद में नक्सली आंदोलन के रूप में आंदोलन राज्य के दूसरे क्षेत्रों और बिहार तथा आंध्र प्रदेश में अन्यत्र फैल गया (सिंघारॉय, 2005)।

8.5 समकालीन भारत में कृषिक संरचना के बदलते प्रतिमान और कृषक आंदोलन

कृषक आंदोलनों के इतिहास का पता ब्रिटिशों की आर्थिक नीतियों में लगाया जा सकता है जो भारतीय कृषि व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन लेकर आयी है। ब्रिटिश औपनिवेशिक विस्तार के परिणामों को सबसे ज्यादा भारतीय कृषक-वर्ग ने महसूस किया और समय-समय पर यह विद्रोह के रूप उभरा। ब्रिटिश शासन के तहत कृषि में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन ने पारम्परिक कृषिक संबंधों को उलट-पलट कर दिया था जिसने कृषक अषान्ति को भी पैदा कर दिया। भूमि एक बिक्री योग्य वस्तु बन गयी थी और उन्नीसवीं सदी के अन्त के दौरान व्यवसायिक कृषि का विकास हुआ। इसके कारण पारम्परिक संबंधों का क्षरण हुआ और इस प्रकार, विद्रोह के लिए संभावनाएँ प्रदान की। 1860 और 1920 के बीच कृषि के व्यवसायीकरण के साथ, जो जमींदार (भू-स्वामी) नगदी में किराया (कर) इकट्ठा करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि उसके दाम अधिक थे (शाह 2004)।

कृषक आंदोलनों ने स्वतंत्रता पश्चात् कृषि सुधारों के लिए वातावरण उत्पन्न कर दिया था, उदाहरण के तौर पर, जमींदारी प्रथा का अंत। उन्होंने जमींदार वर्ग की शक्ति को मिटा दिया, इस प्रकार कृषिक संरचना के रूपांतरण में सहायक सिद्ध हुए। 1960 के दशक से, कृषि उत्पादन तेजी से बाजार उन्मुख हो गये है। इस प्रक्रिया में ना केवल ग्रामीण-षहरी विभाजन धुंधला हुआ है बल्कि कृषक समाज की प्रकृति संरचना, वर्ग/स्तर और चेतना के संदर्भ में भी काफी बदलाव से गुजरी है। समकालीन भारत में कृषि श्रमिक सामान्यतः, एक ही मालिक से जुड़ा हुआ नहीं है, जैसा कि औपनिवेशिक और पूर्व-औपनिवेशिक काल के दौरान पूर्व-पूंजीवादी कृषि में था। पिछले कुछ दशकों में, कृषि श्रमिकों के सर्वहाराकरण के कारण वे दिहाड़ी मजदूरी पर अधिक निर्भर है और इस प्रकार अपने नियोक्ताओं (मालिकों) के साथ अतिरिक्त आर्थिक संबंधों को खो रहे है जो उनके कार्य और जीवन की दशाओं को संचालित करती है (कन्नन 1988 : 12, शाह 2004 :17-18)

हरित क्रान्ति के बाद से बाजार अर्थव्यवस्था और वैश्वीकरण की पैंठ है और कृषक संघर्ष भी परिवर्तन से गुजर रहे हैं। किसानों के नए संगठन जैसे महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन, उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन (BKU), गुजरात, तमिलनाडु और पंजाब में खेडुत समाज अस्तित्व में आये हैं जो काफी राजनीतिक ताकत और प्रभाव रखते है। वे अपने उत्पाद की लाभकारी कीमत के साथ कृषि निवेशों की कीमतों, बिजली करों, सिंचाई करों और सुधार (उन्नति) उगाही आदि में रियायत व अनुदान की माँग करते है (ओमवेट 1993; ब्रास 1994; गुप्ता 1997; लिण्डबर्ग 1997; शाह 2004)। वे विकास प्रतिमान में औद्योगिक विकास से कृषि विकास तक बदलाव के लिए जोर देते हैं। बहुत से स्थानों पर ग्रामीण शहरी विभाजन के धुमिल होने के साथ, अमीर किसानों ने अपनी कृषि बचत को उद्योगों और दूसरे शहरी क्षेत्रों में निवेश करना प्रारम्भ कर दिया है। भारत में आर्थिक सुधारों के बाद की अवधि ने औद्योगिक इकाईयों और विकास परियोजनाओं के लिए खेती योग्य उपजाऊ भूमि के अधिग्रहण के खिलाफ बहुत से कृषक विरोधों और आंदोलनों को देखा है। कुछ उदाहरण है- 2006 में पश्चिम बंगाल के सिंगुर और नंदीग्राम में आंदोलन, 2005 में महाराष्ट्र में मन्न, 2010 में आंध्र प्रदेश में सोमपेटा। इन आंदोलनों में समर्थक विभिन्न प्रकार के गैर-सरकारी संस्थानों (NGOs) से थे और आधुनिक व उन्नत संचार प्रौद्योगिकी (IT) के कारण व्यापक प्रचार भी देखने को मिला।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में किन्हीं दो उग्र कृषक आंदोलनों पर लघु लेख लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) समकालीन भारत में कृषिक संरचना के बदलते प्रतिमान और कृषक आंदोलनों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

8.6 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय समाज में कृषक आंदोलनों के कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों की चर्चा की है। हमने कृषक और कृषक आंदोलन पर सैद्धांतिक चर्चा के साथ शुरुआत की थी। क्रान्तिकारी आंदोलनों में कृषकों की भूमिका पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। उग्र सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि व कारणों तथा अभिव्यक्ति की चर्चा भी की गयी है। कुछ महत्वपूर्ण उग्र सामाजिक आंदोलन पर भी विचार किया गया है।

8.7 संदर्भ

Basavaraja, M.G. (2015): An Economic Analysis of Farmers Movement: A Case Study of Karnataka Rajya Ryota Sangha (KRRS). PhD Thesis, University of Mysore at https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/37086/7chapter%202.pdf accessed on 10.01.2019 (pp 21-22)

Blumer, H. (1951): "Social Movements" in A. N. Lee (ed), New Outline of Principles of Society, Baines D Noldi, New York.

Brass, Tom (1994): "Introduction: The New Farmers' Movements in India" in The Journal of Peasants Studies, Volume 21, April 1994 – Issue 3-4: New Farmers' Movement in India.

Chayanov, A. V. (1966): The Theory of Peasant Economy (translated by D. Thorner, R. E. F. Smith and B. Kerblay), Irin, Glencoe, Illinois.

Desai, A. R. (1979): Peasant Struggles in India, Oxford University Press, New Delhi.

Dhanagare, D. N. (1983): Peasant Movements in India 1920-1950, Oxford University Press, New Delhi.

Firth, R. (1946): Malaya Fishermen: Their Peasant Economy, Kegan Paul, Trench, Trubner and Co., London.

Gusfield, J. R. (ed) (1971): Protest, Reform and Revolt: A Reader in Social Movements, John Wiley and Sons, New York.

Gupta, Dipankar (1997): Rivalry and brotherhood: politics in the life of farmers in northern India, Oxford University Press, Calcutta.

Haberle, R. (1972): 'Types and Functions of Social Movement' in International Encyclopedia of Social Sciences, Macmillan Company Free Press, New York.

Iyengar, Sudarshan (2017); Champaran Satyagraha, Gandhi Research Foundation at http://www.gandhifoundation.net/pdf/GRF_Champaran_ Satyagraha.pdf accessed on 10.01.2019

Kannan, K. P. (1988): Of Rural Proletarian Struggles: Mobilization and Organization of Rural Workers in South-West India, Oxford University Press, Delhi.

Kroeber, A. L. (1948): Anthropology, Harcourt, Brace and World Inc, New York.

Lindberg, Staffan (1997): "Farmers' Movements and Agricultural Development in India" in Staffan Lindberg and Arni Sverrisson (ed), Social Movements in Development: The Challenge of Globalization and Democratization, Macmillan Press Ltd., London.

Mondal, Puja (1981); Highlights on Moplah Rebellion in Malabar (1921) https://www.yourarticlelibrary.com/sociology/highlights-on-moplah-rebellion-in-malabar-1921/31981 accessed on 11.01.2019

Mehta, Uday (1965): "Peasant Movement in India", in The call, Vol XVI, New Delhi, Pp. 14 -16).

Mukherjee, P. N. (1979): From Extremism to Electoral Politics: Naxalite Participation in Elections, Manohar, New Delhi.

Omvedt, Gail (1993): Reinventing Revolution: New Social Movements and the Socialist Tradition in India, M. E. Sharpe, New York.

Pradhan, Tribikram (1988); Mahatma Gandhi and the Peasant Movements between 1917-22, PhD Thesis (Chapter 3), Maharshi Dayanand University Rohtak-124001 at https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/114718/7/07_chapter%203.pdf accessed on 10.01.2019

Rao, E. Koteswara (2011); The Kisan struggles in Andhra Pradesh: a study of Kisan struggles of Munagala and Challapalli Zamindaries, PhD Thesis. Acharya Nagarjuna University at https://sg.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/8104/8/08_chapter%201.pdf accessed on 10.01.2019 (pp 2-37).

Rao, M. S. A. (1987): Social Movements and Social Transformation, Manohar, New Delhi.

Redfield, R. (1956): Peasant Society and Culture: An Anthropological Approach to Civilisation, University of Chicago Press, Chicago.

Sarda, Kritika (2017); The Forgotten Santhal Revolt of 1855, at https://www.livehistoryindia.com/snapshort-histories/2017/07/14/the-forgotten-santhal-revolt-of-1855 accessed on 09-01.2019

Shah, Ghanshyam (2004): Social Movements in India: A Review of Literature, SAGE Publications, New Delhi.

Shanin, T. (1984): (ed) Peasant and Peasant Societies, Penguin Books, New York.

SinghaRoy, D. K. (1992): Women in Peasant Movements: Tebhaga Naxalite and After, Manohar, New Delhi.

Sundrayya, P. (1985): Telangana People's Arm Struggle 1946-51, National Book Centre, New Delhi.

Venkateshwarlu, Potharaju (2015); Peasant Movement in India, International Journal of Multidisciplinary Advanced Research Trends, ISSN: 2349-7408 Volume II, Issue 2(2). September 2015

Wolf, E. R. (1984): 'On Peasant Rebellions' in T Shanin (ed), Peasant and Peasant Studies, Penguin Books, Middlesex.

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Desai, A. R. (1979): Peasant Struggles in India, Oxford University Press, New Delhi.

Dhanagare, D. N. (1983): Peasant Movements in India 1920-1950, Oxford University Press,

New Delhi.

Rao, M. S. A. (1987): Social Movements and Social Transformation, Manohar, New Delhi.

Redfield, R. (1956): Peasant Society and Culture: An Anthropological Approach to Civilisation, University of Chicago Press, Chicago.

SinghaRoy, D.K. 5005 Peasant Movement in Post Colonial India. New Delhi Sage Publication.

इकाई 9 भारत में दलित आंदोलन*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 दलित कौन है

9.3 दलित संघटन/दलित चेतना

9.4 स्वतंत्रता पूर्व भारत में दलित आंदोलन

- 9.4.1 भक्ति आंदोलन
- 9.4.2 नव- वेदांतिक आंदोलन
- 9.4.3 संस्कृतिकरण आंदोलन
- 9.4.4 दलित आंदोलन में गाँधी जी का योगदान
- 9.4.5 दलित आंदोलन में अम्बेडकर का योगदान

9.5 दलित साहित्यिक आंदोलन

9.6 आजादी के बाद के दलित आंदोलन

- 9.6.1 बी.आर.अम्बेडकर औ बुद्धवादी दलित आंदोलन
- 9.6.2 दलित पैंथर
- 9.6.3 कांशीराम का योगदान
- 9.6.4 दलित आंदोलन में मायावती का योगदान

9.7 दलित महिलाओं का आंदोलन

9.8 सारांश

9.9 संदर्भ

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारत में दलित का अर्थ समझ सकेंगे।
- दलित आंदोलन में सम्मिलित समस्याओं/मुद्दों को पहचान सकेगे।
- उन चरणों को जिसके माध्यम से दलित आंदोलन पारित हुआ है, जानेंगे।
- चुनावी राजनीति में दलितों और उनके संगठनों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

दलित आंदोलन भारत में दलितों की प्रस्थिति में सामाजिक राजनीतिक परिर्वतन लाने के लिए एक विरोध आंदोलन के रूप में शुरू हुआ था। सदियों से सवर्णो द्वारा दलितों का बेरहमी से शोषण और अमानवीय रूप से दमन किया जाता रहा है। ब्राह्मण संस्कृति के

* यह इकाई मानस नंदा द्वारा लिखित है।

अधिपत्य में दलित अलग-थलग खंडित और प्रताड़ित किये गये है। उन्हे संस्कृति के अधिपत्य से अलग करके खंडित करके सताया गया था। नयी राजव्यवस्था, उत्तर आधुनिक प्रशासनिक ढ़ांचा, तर्कसंगत न्यायिक व्यवस्था, पट्टेदारी और कराधान के वर्तमान रूप, व्यापार की नये तरीके, उदार शिक्षा प्रणाली और संचार के जाल ने दलितों के लिए स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय की भावना पर विशेष बल दिया है। दलित आंदोलन दलितों के अधिकारों और विशेष अधिकारों पर जोर देते है रमन सूत्रधार (2014) लिखते है कि दलित आंदोलन एक सामाजिक क्रांति है, जिसका लक्ष्य उदारता, समानता और सामाजिक न्याय के लोकतांत्रिक आदर्शो के आधार पर सदियों पुराने पदानुक्रमित भारतीय समाज को बदल कर सामाजिक परिवर्तन लाना है। वह यह भी बताते है, कि सदियों से चले आ रहे सामाजिक सांस्कृतिक बहिष्कार, आर्थिक अभाव और राजनीतिक शोषण ने दलितो को इस प्रकार के पुराने पूर्वाग्रहों को तोड़ने पर मजबूर किया। इस प्रकार दलितों ने साहित्यों कों की मदद से या दलित पैंथर्स जैसी संस्थायें बना कर विरोध करना शुरू कर दिया जिसे दलित-आंदोलन के रूप में पहचाना जाने लगा।

उत्तर आधुनिक शोधकर्ताओं, सामाजिक वैज्ञानिकों और शिक्षाविदों ने दलित आंदोलन का अध्ययन करने में रूचि दिखाई जैसे कि यह भारत के महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों में से एक है। विभिन्न दलित नेताओं ने अपने संगठन और राजनैतिक दल के माध्यम से दलित समाज को एकत्र और प्रेरित किया। जिसका समग्र उद्देश्य एक समावेशी समाज की स्थापना थी। बहुजन समाज पार्टी की सशक्त लाभबंदी कारण दलित लोकतांत्रिक चुनाव प्रक्रिया में भाग ले सके और अपने लिए एक अलग पहचान भी बना सके थे।

राजनीतिक कार्यालयों, कल्याण कार्यक्रमों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण बनाए रखने या बढ़ाने के लिए दलित नेताओं ने आंदोलन शुरू किया था। इसे दलितों का नया राजनीतिक आंदोलन भी कहा जाता है। वर्तमान दलित आंदोलन भारतीय समाज की जाति संरचना का कायापलट किया और अपने आत्मसम्मान की लड़ाई पर विशेष जोर दिया है। वर्तमान आरक्षण प्रणाली दलित आंदोलन के परिणाम माने जाते है।

9.1 दलित कौन है?

दलितों के हमारें देश में अलग-अलग नाम है; जो विभिन्न जगहों में मोजूद हैं। जैसे- पंचम, चांडाल, सामगरा, चामार, अद्विकर्नाटका और अदिद्रविड़ ऐसे नाम जो देश के विभिन्न हिस्सों में मौजूद है। दलित शब्द संस्कृत शब्द ''दल'' से निकला है, जिसका अर्थ है ''जमीन'', ''दबा हुआ'' ''टुकडें'' में तोड़ा हुआ, उसका सर्वप्रथम प्रयोग सत्य साधक समाज के संस्थापक ज्योतिबाफूले द्वारा महाराष्ट्र में गैर ब्राह्मण आंदोलन में हुआ है। उन्होने 19वीं शताब्दी में भारतीय समाज में जाति आधारित सामाजिक विघटन के पीड़ितों के रूप में अछूत व अस्पृश्य संदर्भित करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया था। ''विक्टर प्रेमसागर'' लिखते हैं कि, दलित शब्द भारतीय समाज में उच्च जातियों के हाथों अपमान कमजोरी और गरीबी को व्यक्त करता है। ''दलित शब्द एक राजनैतिक पहचान बन गया ठीक वैसे ही जैसे अफ्रीकी अमेरिकियों शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रों से हटने के लिए ब्लैक या ''अफ्रीकी-अमेरिकी'' शब्द का उपयोग उपयुक्त है। दलित शब्द का आज भी दलित प्रयोग करते है, क्यों? दलितों का मानना है कि दलित शब्द 'टूटने से ही अधिक' अर्थ रखता है, व वास्तव में संघर्ष और दावे से उपजी एक पहचान है। दलित शब्द एक अपमान जनक शब्द है जिसे 1919 में ब्रिटिश शासकों नें अवसादग्रस्त वर्ग में बदल दिया। गाँधी जी

ने प्यार सें उन्हे हरिजन कह कर संबोधित किया है। जबकी ब्रिटिश प्रशासन 1935 में उन्हे अनूसूचित जातियों के रूप में परिभाषित किया गया था। 1970 में महाराष्ट्र में दलित पैंथर आंदोलन में दलित शब्द फिर से प्रचलित हुआ।

वर्ण व्यवस्था में, अछूतों को पंचम वर्ण के रूप में रखा गया। भारतीय समाज में उनकी स्थिति निम्नतम है। तुच्छ जाति के सदस्य है और अशुद्व और प्रदूषित समझे जाते है एवं वे नियमित रूप से भेदभाव और हिंसा का सामना करते रहे है। उन्हे बुनियादी मानवाधिकारों और सभी भारतीयों के लिये करारबद्व सम्मान का आनंद नही प्राप्त है। दूसरी जातियों की प्रदूषण से बचाने के लिये उनको आम रास्ते, मंदिर, स्कूलों तक जाने से मनाही रही है। वे प्रदूषणकारी कार्यो जैसे कि मृतकों का निपटान, शौचालयों की सफाई और सीवेज व्यवसायों को कार्य के रूप में स्वीकार करने के लिए मजबूर रहे है।

भारत में दलितों का कुलप्रतिशत 16.6 प्रतिशत है। वे अधिक घनत्व में उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र आदि राज्यों में हैं। दलित मुख्य रूप से गरीब किसान, बटाई पर जोतने वाली और कृषि श्रमिको के रूप में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में है। शहरी अर्थव्यवस्था में वे मूल रूप से श्रमिक जनसंख्या के रूप में बड़ी मात्रा में है। सूत्रधार (2014) लिखते है, दलितों ने ब्राह्णवाद में शोषण के विरूद्व आंदोलन प्रारंभ किया जो अभी तक सफल नही हुआ है। ऐसे विभिन्न कारण हैं जिनके कारण आंदोलन सफल नही हुआ और ब्राह्मणवाद सामाजिक संरचना में गहराई से निहित हैं। वेदो के प्रवर्तक आर्य ब्राह्मणों ने वास्तव में जाति के भेदभाव को जाति व्यवस्था के माध्यम से संस्थागत रूप दिया है। बहुसंख्यक जाति व्यवस्था को इसलिए स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि नायकतत्व की प्रक्रिया द्वारा लोगों के मस्तिष्क में प्रभुत्व की अवधारणा भरी गई है।

ब्राह्मणों ने दलितों को बहुत व्यवस्थित रूप से उनकी अपनी भूमि और साधनों से वंचित कर दिया है। ब्राह्मणवादी विचारधारा का एक छोटे से आकार के दलित विरोध ने आंदोलन का रूप ले लिया। कुछ शिक्षित दलितों ने आंदोलन प्रारंभ किया गेल ओमवेदट (1976) स्पष्ट रूप से देखा है, औपनिवेशिक समाज मे स्वायत्त दलित आंदोलन में औपनिवेशिक समाज की तीन शक्तियों को सम्मिलित किया:-

1) यह ब्राह्मणवादी हिन्दूत्व के सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से व्यापक और ऐतिहासिक रूप से जड़ जमाये आधिपत्य के विरोध में विकसित हुआ था।

2) इसे राष्ट्रवादी आंदोलन के आधिपत्य के साथ संघर्ष करना पड़ा, कांग्रेस के नेतृत्व में कई उपाजित आंदोलनों की लोकतांत्रिक और समतावादी क्षमताओं को बाधित करते हुये दलितों के एजेंडे पर कब्जा करने का प्रयास किया गया है।

3) इसे कम्युनिस्ट आंदोलनों के साथ एक कठिन रिश्ते का सामना करना पड़ा।

9.3 दलित संघटन/दलित चेतना

संघटन (mobilisation) का मतलब होता है कि लोगो को सामूहिक क्रिया के लिये तैयारी की प्रक्रिया। सामूहिक क्रिया को साधारणतया ऐसे परिभाषित किया जाता है, जिसमें कार्य करने वाले लोग अपने आपसी हितों की प्राप्ति के लिए सामूहिक व्यवहार करते है। उदाहरण के लिये अपने हितों के समर्थन में प्रदर्शन करने के लिए एकत्रित होना है।

नेल स्मेल्सर (1962) ने अपने थ्यौरी ऑफ कलैक्टिव बिहैवियर (Theory of Eollective Behaviour) और चर्ल्स टिली ने अपनी पुस्तक ''फ्रॉम मोबिलाइजेशन टू रिर्वोल्यूशन''

(from mobilization to Revolution) में संघटन को सामूहिक कृत्य को एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में शमिल किया। सामूहिक कृत्य तभी प्रारम्भ होता है जब कार्य के लिये संघटन आरंभ होता है।

भारत में 'जाति और नस्ल' के आधार पर ''घुर्रे'' ने कास्ट एंड रेज इन इंडिया में पारंपरिक भारतीय समाज में छुआछूत से जुड़े भेदभाव के प्रकार की व्याख्या की है, जिसमें अछूत जाति की महिलाओं को उनके शरीर के ऊपरी हिस्से को ढ़कना वर्जित होना शामिल है, जिसमें सोने की गहने पहनकर जाति से परे यौन संबंध रखते हैं और पुरुषों ने अपने घुटनों के नीचे धोती पहनने, सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग करने और अपने जाति के लिये निर्धारित व्यवसायों से परे व्यवसाय को अपनाने पर प्रतिबंध होते थे। बड़े पैमाने पर अछूत सड़क से अपने कदमों के निशान को हटाने के लिए पेड़ की एक कांटेदार शाखा को ले जाते थे। वे अपनी गर्दन में एक मिट्टी का बर्तन थूकने के लिए लटकाने वाले रखते थे जो अन्यथा जमीन पर गिर कर ऊँची जातियों को अशुद्व बना सकता था।

'एस.सी दुबे' ने हिमायत की की, है कि वर्ग चेतना के उदय के लिए दलित विचारधारा जरूरी हो जाती है। वह इस बात की वकालत करते है, कि समकालीन भारत में तो दलित चेतना दलितों द्वारा आधुनिकीकरण की खोज की अभिव्यक्ति है। जबकि, पारंपरिक भारत में दलित चेतना रूढ़िवादी, ब्राह्मणवाद और हिन्दू मूल्यों के लिए एक चुनौती थी। भारत में दलित लाभबंदी को समय के परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाना चाहिए, जब भारत में विभिन्न प्रकार की महत्वपूर्ण विचारधाराओं का सर्मथन करने वाले दृष्टिकोणों ने दलित आंदोलन का सर्मथन किया था। 1920-1950 के दौरान दलित आंदोलन हिन्दू मंदिरों में जबरन प्रवेश करने, और मनुस्मृति को जलाने का तांडव भी था, तथा ब्राह्मणवादी विचारधारा द्वारा शासित पुजारियों को सेवाओं का बहिष्कार करने और जाति साहित्य का प्रकाशन और वितरण से जुड़ा था, लेकिन, समकालीन भारत में दलित आस्मिता हिंदुत्व के विरूद्व विद्रोह की अपेक्षा अधिकारों, न्याय और समानता की खोज का मामला अधिक है। इस प्रकार दलित चेतना के विभिन्न चरणों को अलग-अलग विचारधाराओं और रूचि द्वारा संचालित किया जाता रहा है, और समाजशास्त्र में इनका विवरण होना आवश्यक है।

प्रमुख समाजशास्त्री ''आंद्रे बेटिएल'' (1969, 1991) द्वारा यह बताया गया कि, समकालीन भारत में दलित लाभबंदी भेदभावपूर्ण सांस्कृतिक अतीत की बजाय राजनीतिक हित से अधिक प्रेरित है। समकालीन भारत में अस्पृश्यता अपनी पकड़ खो रही है, क्योकि जाति मुक्त व्यवसायों की वृद्धि के परिणामस्वरूप एक ही व्यवसायिक माहौल में ब्राह्मण और दलितों की सह-उपस्थिति बढ़ रही है। भारतीय संविधान सार्वजनिक महत्व की संस्थाएँ विद्यालयों, महाविद्यालयों, अस्पतालों और अन्य जगह में अछूतों की भेदभाव के संभावित रूपों से रक्षा करने की प्रमुखता को विशेष स्थान देता है। यहाँ परिवहन और संचार परिवहन के विकास द्वारा समाज के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक विकास क्रम को पहुँचाने और विचारधाराओं के निर्वाह और बहिर्वाह की सुविधा प्रदान की है, जिसके परिणाम स्वरूप समकालीन भारत में दलितों के शोषण और भेदभाव की प्रवृति घटी है, जिसका श्रेय समाजिक परिवर्तन के संरचित नमूनो को दिया जाना चाहिए।

''गेल ओमवेट्ट'' ने जोर देकर कहा हैं कि, भारत में दलितों की लाभबंदी को बहुआयामी परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना चाहिये। वे इस बात की पक्षधर थी कि हर आंदोलन प्रारभिक अवस्था समेकन अवस्था, से क्रिस्टलीकरण की अवस्था परिपक्वता की अवस्था और विघटन की अवस्था तक जाता है। भारत में स्वतंत्रता से पहले दलित संघठन प्रारंभ होने के लिये

आर्थिक भेदभावए प्रतिष्ठा का अभाव, सांस्कृतिक पृथकता और निर्णय लेने की प्रक्रिया से विसंबंध उत्तरदायी थे। वे आगे बताती है कि रिपब्लिकन जस्टिस पार्टी और अंबेडकर के उदय से दलित आंदोलन मजबूत हुआ। अंम्बेडकर ने कहा था, दलितों को अपने उत्थान के लिए गांधी की बजाय अंबेडकर की जरूरत है।

''एम.एस.एम.राव'' 'सोशल मूवमैंट्स इन इंडिया' में भारत की सामाजिक क्रांति में दलित आंदोलनो को अमेरिका में अश्वेतों के आंदोलनों के साथ बराबरी पर रखते है। निष्कर्ष में कहते है कि दलित आंदोलन की विचार धारा को पश्चिम से आयात किया गया जिसने भारतीय सामाज की मिट्टी में फल दिया।

''योगेंद्र सिंह'' कहते हैं कि भारत में दलित संघटन इस बात की पर्याप्त मिसाल है, कि कैसे आधुनिकीकरण ने जाति व्यवस्था की पूरी रीढ़ तोड़ दी थी। और वे दलित चेतना को वर्ग चेतना से जोड़कर यह विचार सबके सामने लाते है कि भारत में मुख्य रूप से दलित लाभबंदी वंशानुक्रम के विरूद्व सिद्वांतों में समानता के सिद्वांतों को महत्व देते हुए आधुनिकीकरण की दिशा में भारतीय समाज को अग्रसर कर रही है। दलित संघठन को लेकर समाजशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न विचार होने के बाद भी सब मानते है कि भारत में दलित संघठन एक अनुभाविक तथ्य है। यह एक और दलितों की सम्मानपूवर्क निज पहचान की, अधिकारों और समानता की खोज है। दूसरी ओर दलित संघटन ने जाति के या पहचान के महिमामंडन जिसमें जाति निहित रहती है, उसका मार्ग खोला। जाति दलित संघटन के ऐसे जातिगत परिणाम भारतीय संविधान के मूल उद्देश्य के खिलाफ खडे हुए है, जिसने भारत को एक जातिविहीन और वर्गविहीन समाज बनाने का संकल्प लिया है।

दलित आंदोलन का मुख्य जोर स्वतंत्रता-पूर्व और स्वतंत्र बाद के काल में अस्पृश्यता की समस्या पर केन्द्रित करता रहा है, दलितों ने राजनीतिक क्षेत्र, सरकारी नौकरियों और कल्याणकारी योजनाओं में आरक्षण को बनाए रखने या आरक्षण बढ़ते का भरपूर समर्थन किया।

घनष्याम शाह (2004) ने दलित आंदोलनों को परिष्कृत सुधारवादी और वैकल्पिक आंदोलनों में वर्गीकृत किया है। पहले में जाति एंव जाति व्यवस्था में सुधार के लिए छूआछूत की समस्या को हल करने के लिए पूर्णतः प्रयत्न किया गया है। दूसरा अर्थात वैकल्पिक आंदोलन किसी अन्य धर्म में धर्मान्तरण करके या शिक्षा, आर्थिक स्थिति और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके एक वैकल्पिक सामाजिक - सांस्कृतिक संरचना बनाने का प्रयास करता है। दोनो प्रकार के आंदोलन अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए राजनीतिक साधनो का उपयोग करते है। सुधारवादी आंदोलन आगे चलकर भक्ति आंदोलन, नव वेदांतिक आंदोलन, संस्कृतिकरण आंदोलनों में विभक्त हो गये।

वैकल्पिक आंदोलन धर्म परिवर्तन आंदोलनों और धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष आंदोलन मे विभाजित हो गये है। दूसरे आंदोलन आर्थिक मुद्दों से संबंधित आंदोलन है। दलितो के पहचान तथा विचारधाराओं के संदर्भ में शाह ने दलित आंदोलनों के वर्गीकरण करते हुये दलित आंदोलनों को सांस्कृतिक सहमति, प्रतिस्पर्धा की विचारधारा और गैर हिन्दू पहचान, बौद्व धर्म दलित विचारधारा और दलित पहचान के आंदोलनों में वर्गीकृत किया है। पहले तीन धार्मिक विचारधाराओं के इर्द गिर्द आधारित है, जबकि यह अंतिम वर्ग पर आधारित है।

प्रमुख रूप से सुधारवादी आंदोलन आगे चल कर। (1) भक्ति आंदोलन (2) नव वैद्वांतिक- और (3) संस्कृतिकरण आंदोलन में विभक्त हुआ। वैकल्पिक आंदोलनों को - (1) धर्मांतरण

आंदोलन और (2) धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष आंदोलन मे विभाजित हो गये है। दूसरे आंदोलन में, आर्थिक मुदों से जुड़े आंदोलन को भी शामिल हुये। दलित पहचान और विचारधाराओं को लेकर ''शाह'' ने दलित आंदोलन को इस प्रकार वर्गीकृत किया है (1) सांस्कृतिक चेतना के भीतर हुये आंदोलन (2) प्रतिस्पर्धी विचारधारा और गैर हिन्दू पहचान (3) बौद्व दलित, और (4) प्रतिकूल/विपरीत विचारधारा और दलित पहचान।

बोध प्रश्न 1

नोटः1) प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।

2) इस इकाई के अंत और दिए गए उत्तर के साथ अपने उत्तर की तुलना करें।

1) दलित की अवधारणा की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) दलित संघटन/दलित चेनता पर एक निबंध लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 स्वतंत्रतापूर्व भारत में दलित आंदोलन

9.4.1 भक्ति आंदोलन

यह आंदोलन 15 वीं शताब्दी में प्रसिद्व आंदोलन है। जिसने समाज के सभी वर्गो से समान व्यवहार किया और इस आंदोलन ने दो प्रथाये चलाई सगुण और निर्गुण। सगुण भगवान विष्णु और षिव की मूर्तीरूप में वैष्णव और शैव संप्रदायों की परंपराओं से संबधित है। हालांकि यह वर्णाश्रम धर्म और समाजिक जाति श्रृंखला से जुड़ी थी, तथापि यह सभी जातियों के बीच समानता का पक्षधर है। निर्गुण के अनुयायी आकार रहित ईश्वर को मानते हैं। रविदास और कबीर प्रमुखतः दोनों ही इस परंपरा के प्रमुख व्यक्ति थे। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यह शहरी दलितों के बीच अधिक लोकप्रिय हो गए, क्योकि इन्होने सभी के लिए मुक्ति की संभावना प्रदान की इसने सामाजिक समानता का बचन दिया। फुलर का तर्क है कि इन आंदोलनों के माध्यम से धार्मिक नैतिकता की समतावाद के घोषणापत्र के रूप में पुनव्याख्या हुई। इसमें कोई शक नही कि भक्ति आंदोलन की शिक्षाओं ने दलित आंदोलन की शुरुआत के लिए दलित जातियों को प्रेरित किया है। इन्होने दलित की भावी पीढ़ियों के लिए इन रूढ़िवादी हिन्दू धर्म के विरोध के साधन प्रदान किये।

9.4.2 नव-वेद्वांतिक आंदोलनः

इस आंदोलन की शुरुआत हिन्दू धर्म गुरूओं और समाज सुधारकों द्वारा की गई थी। इन आंदोलनों में दलितों के जाति व्यवस्था के घेरे में ला कर अस्पृश्यता को दूर करने का प्रयास किया। इन आंदोलनों की अग्रदूतों के अनुसार, अस्पृश्यता हिन्दू धर्म और यहाँ तक कि जाति व्यवस्था का आवश्यक भाग नही थी। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती ''का मानना था कि जाति व्यवस्था समाज की भलाई के लिए शासकों द्वारा बनाई गई एक राजनीतिक संस्था थी, न कि प्राकृतिक या धार्मिक विशिष्टता'। उन्होने कहा, जो ब्राहमण अपने काम के लिए अयोग्य हो जाता है, वह विधित तौर (डे जुरे) पर शुद्र होता है, तथा एक शुद्र जो विद्याध्ययन करता है वह (डे ज्यूर) ब्राह्ण हो जाता है। हालाँकि, दोनों में से वस्तुतः खुद की इच्छा या दूसरों की इच्छा ऐसा नही कर सकता है, जब तक कि राज्य उसे ऐसा नहीं बनाये (जोर्डन 1978:62)

नव वैद्वांतिक आंदोलनों और गैर-ब्राह्मण आंदोलनों ने देश के कुछ हिस्सों में एक विशेषतः पनपरही जाति-विरोधी या हिन्दू धर्म-विरोधी दलित आंदोलनों में महत्वपूर्ण उत्प्रेरक भूमिका निभाई। महाराष्ट्र में सत्यशोधक समाज और स्वाभिमान आंदोलन और तमिलनाडू में आदि धर्म, बंगाल में आदि, आंध्र आंदोलन और उत्तर-प्रदेश में आदि हिन्दू आंदोलन महत्वपूर्ण अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन है, जो 19 वीं शताब्दी की अंतिम और 20 वीं शताब्दी के आरंभिक भाग में शुरू हुये थे।

नंदिनी गुप्तु ने अपने अध्ययन बीसवीं शताब्दी मे उत्तर-प्रदेश में क्षेत्र के शहरी क्षेत्रों में आदि-हिन्दू आंदोलन के उदय (2001) की समीक्षा की है। आदिधर्म की भांति आदि-हिन्दू आंदोलन के नेताओं का मानना था कि हिन्दू धर्म का वर्तमान स्वरूप उन पर आर्य आक्रमणकारियों द्वारा थोपा गया था। इस आन्दोलन ने जाति व्यवस्था के लिए सीधा खतरा पैदा नहीं किया। इस आंदोलन को सार रूप में आर्य हिंदु न होने के दावों के आधार पर अछूतों को प्रदत निम्न कार्यो और निम्न दर्जे के विरोध में सोचा और जारी किया गया। यह आंदोलन जाति व्यवस्था पर तीव्र सीधे हमला के लिये विकसित नहीं किया गया था। (गुप्तु 1993-298)। दलितों ने खुद को आंध्र में आदि आंध्र, कर्नाटक में आदि कर्नाटक, तमिलनाडु में आदि - द्रविड़, अस्पृश्यता उत्तर प्रदेश में आदि हिन्दू पंजाब में आदि धर्मी आदि बुलाना शुरू किया। दलितों ने अस्पृश्यता से छुटकारा पाने के उद्देश्य से और अपनी सामाजिक और वित्तीय स्थितियों को विकसित करने के लिए धर्मातरण के मार्ग का भी अनुसरण किया था,

महात्मा ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणवाद के चंगुल से गैर-ब्राह्मणों को मुक्त करने के उद्देश्य से 1873 में सत्य शोधक मंडल का गठन किया। 1912 में कोल्हापुर शोधक मंडल के शाहु महाराज ने फुले, द्वारा शुरू किए गए आंदोलन को आगे बढ़ाया था। स्वतंत्रता पूर्व, ब्राह्मणवाद के विरूद्व सशक्त गैर ब्राह्मण आंदोलन में, महाराष्ट्र में फूले ने तमिलनाडू में आदि द्रविड़, केरल में श्री नारायण धर्म परिपालन आंदोलन, तटीय आंध्रप्रदेश में आदि आंध्र आंदोलन इत्यादि शामिल थे। फूले ने एक नया आस्तिक (theistic) धर्म बनाने प्रयत्न किया।

9.4.3 संस्कृतिकरण आंदोलन

श्री एम.एन. श्री निवासन ने संस्कृतिकरण को ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है, जिसके द्वारा ''एक निम्न या मध्यम हिन्दु जाति, या जनजाति या अन्य समूह अपनी प्रथाओं रीति रिवाजों और जीवन शैली में उच्च और द्विज की दिशा में परिवर्तित करते है।

कुमार (1991) लिखते हैं, कि दलित नेताओं ने खुद को जाति पदानुक्रम में उच्च स्थान पर रखने के लिये संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का अनुसरण किया। उन्होने ब्राह्मणों के तौर तरीके अपनाये जैसे शाकाहारी पहचान बनाना, चंदन माथे पर लगाना, पवित्र धागा पहनना, आदि। इस प्रकार नेताओं जैसे स्वामी थायकबड (केरल), पंड़ी, सुंदर लाइ सागर (यू.पी.)। मूलदास वैश्य, (गुजरात), मून विठोबा राओंजी पांडे (महाराष्ट्र) और अन्य लोगो ने उच्च जातियों के स्थापित सांस्कृतिक संस्कारों और प्रथाओं को अपनाने की कोशिश की थी,। दलितों द्वारा उच्च जाति के शिष्टाचार का अनुकरण उनके समानता को अधिकार पर दावा था।

कुछ दलित नेताओं ने पैरवी की थी, कि ब्राह्मणवादी संस्कृति और तौर तरीके जैसे शाकाहार, माथे पर चंदन का लेप लगाना गर्दन के चारो ओर पवित्र धागों का उपयोग करना और ब्राह्मणों जैसी बोलियों, पहनावा, शिष्टाचार, समारोहों और अनुष्ठानो का अनुसरण करने से उन्हे समाज में अपना स्थान ऊँचा करने में मदद मिलेगी। कुछ दलित ब्रह्म समाज, आर्य समाज और मनुभाव संप्रदाय की ओर आकर्षित हुये।

यह 1920 के दशक के दौरान हुआ जब दलितों ने भारत के कई क्षेत्रों में जोरदार एवं स्वतंत्र रूप से संगठित होना शुरू कर दिया था। इस प्रकार प्रारंभिक दलित आंदोलनों में सबसे महत्वपूर्ण थे, पंजाब में आदि धर्म आंदोलन (प्रायोजित 1926) कियाः अम्बेडकर के नेतृत्व में महाराष्ट्र में आंदोलन हुआ जो मुख्य रूप से महारों के मध्य आधारित था, 1924 में इसकी संगठनात्मक शुरुआत दशा थीः बंगाल में नामाशुद्र आंदोलन, तमिलनाडु में आदि -द्रविड़ आंदोलन, आदि -कर्नाटक आंदोलन, आदि-हिन्दू आंदोलन जो मुख्य रूप से यू.पी. में कानपुर के आस-पास केंद्रित था, और इसके अलावा हम यह आंदोलन केरल में पुलाया और चेरूमानस में देख सकते हैं।

क्षीरसागर (1994) लिखते है कि संस्कृतिकरण की परिघटना को बहुत समय पहले ड़ा.बाबा साहिब अम्बेड़कर ने कास्ट्स ऑफ इंडिया (1966) में जाति के निर्माण के संदर्भ में नकल शब्द के रूप समझाया था। उन्होने जोर देकर कहा कि पूर्व जाति समाज में अधिकतर सभी जातियों ने अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उच्च करने के लिये और अन्य समूहो को भिन्न लगने के लिये ब्राह्मणों के तौर तरीके और प्रथाओं की नकल करके ब्राह्मण वर्ग का अनुकरण किया। इस प्रक्रिया से जातियों को आकार मिला। वे कहते है कि नकल के नियम उच्चतर से निम्नतर की ओर जाते है। नकल में तीव्रता उच्चतर जातियों से सामाजिक दूरी के हिसाब से बदलती रहती है और नकल के स्रोत को समूह में सम्मान अवश्य मिला।

9.4.4 दलित आंदोलन में गाँधी जी का योगदान

जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रिका में थे, उन्होने सामाजिक भेद भाव की समास्या को महसूस किया। गाँधी जी इस बात के पक्षधर थे राष्ट्र का विकास और निर्माण अत्याधिक महत्वपूर्ण है, इसे अछूतों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठा करके की हासिल किया जा सकता था। उन्होने हमेशा अस्पृश्यता को समाज की एक क्रूर और अमानवीय संस्था के रूप में सोचा था। अहमदाबाद में हरिजन के साथ बातचीत के दौरान, उन्होने पाया कि यह हिन्दू धर्म की शुद्धिकरण के लिए एक आंदोलन है। ''गाँधी जी के अनुसार'', अगर हम एक ही भगवान के बच्चे हैं तो हमारे बीच कोई श्रेणीकरण कैसे हो सकता है? उन्होने छुआछूत की समस्या और इसकी जड़ों से इसे हटाने पर जोर दिया था। हरिजनों के उत्थान के लिए काम को बढ़ावा देने के लिए, गाँधी जी ने 1932 में जेल में रहते हुए हरिजन सेवक ''संघ'' की नींव

रखी थी। यह संगठन कांग्रेस का हिस्सा नहीं था। यह 1932 में गाँधी जी के द्वारा जेल में शुरू किए गए उपवास परिणाम था।

9.4.5 अम्बेड़कर का दलित आंदोलन में योगदान

अंबेडकर ने अप्रैल 1927 में मराठी पाक्षिक बहिस्कृत 'भारत' और साप्ताहिक जनता 1930 में प्रारंभ किये। सितम्बर 1927 में उन्होंने हिन्दू जाति और अस्पृश्यों के बीच सामाजिक समता की हिमायत के लिए समाज समता संघ आरंभ किया। उन्होंने अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया। उन्होंने मार्च 1929 में एक अन्य पत्र 'समता' प्रकाशित किया। 1927 में उन्होंने सार्वजनिक टैंक से पानी लेने के अछूतों के अधिकार स्थापित करने के लिए सत्याग्रह किया। कोलाबा स्थित चावादर ताल पर हिंदुओं ने व्यक्तिगत संपत्ति दावा किया और एक लंबी कानूनी लड़ाई के बाद 1931 मार्च में बंबई उच्च न्यायलय में अंबेडकर मुकदमा जीत गये।

अम्बेड़कर ने दूसरा सत्याग्रह मार्च 1930 में नासिक के प्रसिद्व मंदिर 'कालाराम' में अछूत के प्रवेश के अधिकार को स्थापित करने के लिये किया। ये सत्याग्रह 1934 में वापिस ले लिया गया। अप्रैल 1942 से 1946 तक उन्होने अपनी गतिविधियों का विस्तार किया और सम्पूर्ण भारत के राजनैतिक दल के रूप में शैड्यूल्ड कास्ट्स फैडरेशन की स्थापना की। 1942 से 1946 तक वे गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद (executive council) के सदस्य रहे और इन्होंने इस मौके का अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदि वासियों के हितों का प्रोत्साहित करने के लिये प्रयोग किया। अम्बेडकर ने इनकी शिक्षा के लिये केन्द्रीय सरकार से अनुदान लिया और केंद्रिय ओर राज्यस्तरीय नौकरियों में उनके लिये आरक्षण लिया।

9.5 दलित साहित्यिक आंदोलन

दलित लेखन समूचे भारत की परिघटना बन गया। दादा वाला (2016) लिखते हैं कि 1960 के दशक से पूर्व भी बाबूराव बागुल, बंधुमाधव, शकराओ खारत, नारायण सर्वे, अन्नामाऊ साठे जैसे लेखक अपने साहित्य में दलित की समस्या और उनके प्रति चिंता व्यक्त कर रहे थे। मराठी में बाबू राव वागुल (1930-2008) मराठी दलित लेखन के अग्रदूत समझे जाते है। उनकी 1963 में प्रकाशित लघु कहानियों 'जीवाह मिजाव चोराली' (जब मैने अपनी जाति छुपाई) नामक संग्रह ने सामाजिक शोषण के उग्र चित्रण से समूचे साहित्य की पारंपरिक नींव को हिला दिया। तत्पश्चात नामदेव घासाल (जिसने दलित पैथर नाम की संस्था बनाई) ने भारत में दलित साहित्य आंदोलन को और विस्तारित एवं संगठित किया।

मराठी में लक्ष्मी गायक वाड, लक्षमण पवार, दया पवार, वमन निम्बालकर, त्रयम्बक सप्कले, अरूण डांगल, उमाकांत रणधीर, जे.वी.पवार, ताराचंद खांडेकर, योगी राज वाघमारे, अविनाश डोलास, किशोर शांताबाई काले, नरेंद्र जाघव, योगेंद्र मेषराम, भीमराव षिखाल आदि साहित्यका दलित लेखन की प्रमुख आवाज बन गये। बहुत से दलित लेखन का अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया और दलितों लेखन के संग्रहों के रूप में भी अनुवाद किया गया और दलितो के लेखन के संग्रहों के रूप में प्रकाशित किया गया।

9.6 आज़ादी के बाद के दलित आंदोलन

9.6.1 डॉ.बी.आर. अम्बेड़कर और बौद्ध दलित आंदोलन

डॉ.बी.आर. अम्बेड़कर दलित आंदोलन का अग्रणी व्यक्तित्व है। अम्बेड़कर ने अपने जीवन का हर, पल दलितों के उत्थान के लिये सोचते और संघर्ष को समर्पित बलिदान कर दिया। 15 अगस्त 1947 को अम्बेड़कर देश के पहले कानून मंत्री नियुक्त हुये, जिसे उन्होने स्वीकार किया 29 अगस्त 1947 को उन्हे संविधान आलेखन (drafting)समिति का अध्यक्ष बनाया गया जिस का प्रभार उन्हे भारत का नया संविधान लिखने के लिये सभा द्वारा दिया गया।

अम्बेडकर ने नागरिको को व्यक्तिगत तौर पर व्यापक नागरिक स्वतंत्रता जिसमें धार्मिक स्वतंत्रता भी सम्मिलित थी, की प्रत्याभूति एवं सुरक्षा प्रदान की साथ ही अस्पृश्यता का उन्मूलन किया और हर प्रकार के भेदभाव को गैर कानूनी बनाया। अम्बेडकर ने महिलाओ के व्यापक (extensive) आर्थिक और सामाजिक अधिकारो के लिये लड़ाई की। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के लिये विद्यालय व महा विद्यालय, नागरिक सेवाओं में नौकरियों के आरक्षण के लिये उन्होने सभा का सहयोग भी प्राप्त किया जो एक प्रकार की सकारात्मक गतिविधि थी। भारत के कानून निर्माताओं को आशा थी, कि इन उपायों से भारत के शोषित वर्गो की सामाजिक आर्थिक असमानता और अवसरों के अभाव को समाप्त किया जा सकेगा।

बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण

अम्बेडकर बौद्ध धर्म के पक्षधर थे। उन्होने सम्पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। 1950 में उन्होने अपना ध्यान पूर्ण तथा बौद्ध धर्म पर केन्द्रित किया और एक सभा ''वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट'' में भाग लेने सीलोन (अब श्रीलंका) की यात्रा पर गये। उन्होने बौद्वधर्म धर्मांतरण की हिमायत की। 1954 में अंबेडकर दो बार बर्मा गये दूसरी बार बौद्ध धर्म की वैश्विक अध्येतवृति (fellowship) समारोह में भाग लेने रंगून गये। 1955 में उन्होने भारतीय बुद्व महासभा का गठन किया। 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में अम्बेडकर और उनके समर्थकों ने एक औपचारिक जन समारोह को आयोजन किया। अम्बेडकर ने अपनी पत्नी के साथ बौद्व धर्म में धर्मांतरण किया। फिर उन्होने वहॉ एकत्रित अनुमानतः अपने 500,000 समर्थकों का भी धर्मांतरण किया। फिर वे चतुर्थ विश्व बौद्व सम्मेलन में भाग लेने के लिये नेपाल से काठमांडू, गये। अम्बेडकर आश्वस्त थे कि बौद्वधर्म के नैतिक सिद्वांत दो महान उद्देश्यों को पूर्ण करते थे, पहला, राजनैतिक क्षेत्र में ये दलितों के लिये असंप्रदायिक विचारधारा उत्पन्न करने में और हिंसक राजनीति के अन्य विद्यमान परिप्रेक्ष्यों विरूद्व एक पहचान उत्पन्न करेगे।

1936 में बंबई प्रेजीडेंसी में महार सम्मेलन के दौरान अम्बेडकर को पूर्ण विश्वास था कि स्वयं को मुक्त करने के लिये दलितों के पास धर्मांतरण शक्तिशाली हाथियार था। उन्होनें महसूस किया कि ''हिन्दुओ के बीच जाति व्यवस्था की नींव धर्म है'' जब तक दलित हिंदु रहेंगें भोजन और पानी के लिये, सामाजिक समागम के लिये, सघंर्ष करते रहेगे यदि हिंदू बने रहते है तो अंतरजातीय विवाद के लिये भी संघर्ष करेंगे। 1956 में अम्बेडकर ने नागपुर में स्वयं धर्म परिवर्तन किया। उनके कुशल नेतृत्व में चार लाख दलितों को बौद्व धर्म में धर्मांतरण के लिये संघटित किया गया। उदा हरण के लिये 1981 में जातिगत अत्याचारों

के चलते तमिलनाडू में 1000 दलित इस्लाम में धर्मांतरित हो गये। सन् 2002 में जब गाय को मारने के संदेह में चार दलितों को भीड़ ने पीट-पीट कर मार डाला तब दक्षिण में बड़ी संख्या में सामूहिक धर्मान्तरण हुआ। 2014 में मध्य प्रदेश के शिवपुरी में जातिगत भेदभाव से तंग हो कर दलितो ने इस्लाम अपनाया। इसी साल के पूर्वाध में 180 दलितों ने दलित अधिकार संगठन भीम आर्मी के कार्यकर्त्ता को जेल भेजने के विरोध में बौद्व धर्म अपनाया।

अम्बेडकर इस आंदोलन की नींव के मुख्य वास्तुकार थे। उन्होने इस आंदोलन का एक उद्देश्य पूर्ति करने वाला मिशन बना कर छोड़ा चाहे समय के साथ इसमें नेतृत्व परिवर्तित हुये। जिस अतिवादी मार्क्सवादी विचार धारा को जिस साम्यवादी समझ को कभी अंबेड़कर भारत में शोषित वर्ग की व्याख्या के लिये उपयुक्त मानते थे, इससे प्रभाव में न आते हुये उन्होने एक ठोस आर्थिक विकास योजना का प्रारूप बनाया।

राज्य और अल्पसंख्यकों में अंबेडकर ने प्राइवेट उद्योगों के हर मार्ग को बन्द किये बिना और धन के बराबर वितरण करते हुये भारत के आर्थिक विकास की रणनीति तैयार की। उन्होने एक ऐसे आर्थिक ढ़ांचे की हिमायत की जो समाज के अशक्त वर्गो को आर्थिक शोषण के विरूद्व सुरक्षा प्रदान करने पर लक्षित था। (जाघव 1993)।

2001 की जनगणना के अनुसार, भारत में कमसे कम 70.95 लाख बौद्व है जिनमें 50.83 लाख महाराष्ट्र में है। ये संख्या बौद्व धर्म को भारत का पाँचवा सबसे बड़ा धर्म और महाराष्ट्र की जनसंख्या का छः प्रतिशत बनाती है किंतु भारत की कुल जनसंख्या ये मात्र एक प्रतिशत (1%) है। बौद्व धर्म का पुर्नजागरण दो राज्यों तक सीमित है- अंबेडर का जन्म स्थान महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश- आचार्य मेधारथी और उनके समर्थको की भूमि। भोज देव मुदित, 1968 में बौद्व धर्म में धर्मान्तरित हुये और उन्होने अपना एक मत स्थापित किया। राजेंद्रनाथ अहरवार कानपुर में महत्वपूर्ण दलित नेता के रूप में उभरे। भारतीय रिपलब्किन पार्टी से जुड़े और 1961 में उन्होने अपने समूचे परिवार सहित बौद्व धर्म में धर्म परिवर्तन कर लिया। उन्होने भारतीय बुद्व महासभा की कानपुर शाखा की आधार शिला रखी।

1980 में एक चमार भिक्षु, दीपांकर के आगमन के साथ कानपुर में दलित आंदोलन को गति मिली। दीपांकर कानपुर एक बौद्व मिशन पर आये थे और उनका प्रथम जन दर्शन 1981 में एक वृहद धर्मांतरण के दौरान निर्धारित था। इस कार्यक्रम का आयोजन एक आर.पी.आई (RPI) और दलित नेता राहुलन अम्बावाडकर ने किया। अप्रैल1981 में महाराष्ट्र की दलित पैंथर से प्रेरित हो कर दलित पैंथर्स (उत्तर प्रदेश शाखा) की स्थापना की।

9.6.2 दलित पैंथर्स

दलित पैंथर्स आंदोलन एक नव- सामाजिक आंदोलन था जिसने सैद्धांतिक रूपरेखा के लिये अंबेडकर के दर्शन को स्वीकार किया। दलित पैंथर्स एक ऐसी सामाजिक संस्था थी जो जातीगत भेदभाव के विरूद्व लड़ती थी। इसकी स्थापना 29 मई 1972 में नाम देव घसाल और जे.वी. पवार ने महाराष्ट्र राज्य में की।

दलित पैंथर्स ब्लैक पैंथर्स पार्टी से प्रेरित थी, जो एक ऐसा सामाजिक आंदोलन था जिस ने बीसवी शताब्दी के दौरान अफ्रीकी अमेरीकन के साथ हो रहे नस्लीय प्रजातिय भेदभाव के विरूद्व लडाई की। दलित पैंथर्स आंदोलन के गठन की पहल नामदेव, धसाल, जे.वी.पवार और अरूण कांबले ने बम्बई में की। दलित पैंथर्स आंदोलन क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कारण पूर्व के दलित आंदोलनों से अलग एक कट्टर आंदोलन था। जिनका आरंभिक जोर आतंकवाद और क्रांतिकारी दृष्टिकोण पर था।

इसमें अधिकतर सदस्य युवा थे। जिमें से कुछ नव- बौद्व थे। वे कट्टर राजनीति का अनुसरण करते थे और अम्बेडकर, ज्योति राव फूले और कार्लमार्क्स की विचारधाराओं के संम्मिश्रण के हिमायती थे। दलित पैंथर्स ने निम्न जाति के संदर्भ में दलित शब्द की प्रयोग को बल देने में मदद की कुमार (2016) कहते हैः कि दलित पैंथर्स पूर्वक दलित आंदोलनों से उग्रता की ओर प्रस्थान (radical departure) था। इसके अपरिष्कृत हथियारों और धमकियो के माध्यम से आतंक पर दिये प्रारम्भिक जोर ने आंदोलन को एक क्रांतिकारी रंग दे दिये। उनके घोषणा पत्र के अनुसार दलित पैंथर्स ने दलित आंदोलन के लिये राजनैतिक दायरे में कट्टरता लाने के लिये कई नये प्रयोग किये। दलित पैंथर्स ने दलितों को सर्वहारा जैसा एक अतिवादी वर्ग चिन्ह दिया और उनके संघर्ष को दुनिया भर के शोषित जन का संघर्ष बना दिया। मार्क्सवाद ने इन आंदोलनो ने क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिये वैज्ञानिक रूपरेखा प्रदान की। यद्यपि, दलितों और गैर दलितों दोनों वंचित श्रेणी (havenots) में मूलभूत परिवर्तन के लिये लालायित थे, उनमें दलित अम्बेडकर के तरीकों का पालन करते रहे और गैर दलित ने मार्क्सवादी तरीका चुना जिससे वे प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया को भौतिक सत्य को प्रतिबिंब के रूप में देखते रहे।

दुर्भाग्यवश, उनके पास भी ब्लैक पैंथर्स पार्टी (BPP) की भांति अपनी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक उर्जा को सही दिशा देने के लिये उपयुक्त विचार धारा का अभाव था। रोचक बात यह थी कि आत्मरक्षा के रूप में उनमे भी ब्लैक पैंथर्स पार्टी (BPP) के योगदानों के सकारात्मक पक्ष की झलक दिखती थी, समूह व्यवस्था तकनीको प्रचार तकनीको और अतिवादी अभिविन्यास में भी जिस ब्लैक पैंथर्स पार्टी (BPP) का सकारात्मक पक्ष जितना दिखता था उतना नकारात्मक पक्ष भी। ब्लैक पैंथर्स की भांति वे भी ''टी.वी. मानसिकता (टी. वी. द्रुतगामी कार्यक्रमों की भांति क्रांतिकारी संघर्ष का भी तीव्र परिणाम देने वाला समझना)। हठधर्मिता, संस्था के लिये आवश्यक आर्थिक आधार की अनदेखी, ढुलमुल प्रवृतियॉ, बक्रपटुता युक्तिपूर्वक बच कर निकलने की क्षमताऐं, संघर्ष के रूप के बारे में स्पष्टता का अभाव आगे चल कर नेतृत्व के भष्टाचारी होने की संभावना आदि से ग्रस्त थे।

9.6.3 कांशी राम का योगदान

1984 में डा.बी.आर. आम्बेडकर के जन्म दिन पर भारत में बहुजन (अल्पसंख्यकों) का प्रतिनिधित्व करने के लिये कांशी राम द्वारा बहुजन समाज पार्टी (BSP) का गठन किया गया जो एक लोकप्रिय राष्ट्रीय राजनैतिक दल है। यह अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गो के साथ -साथ धार्मिक अल्पसंख्यकों से संदर्भित है। इसके कार्यकर्ता गौतम बुद्व, बी.आर. आम्बेडकर महात्मा ज्योतिबा फूले, नारायण गुरू, पैरियार ई. वी.रामास्वामी और छत्रपति साहू जी महाराज के दर्शन से प्रेरित है। बी.एस. पी. (BSP) को प्रमुख मुद्वा दलित लोगों का उत्थान है, जो समाज के ''समाजिक रूपांतरण और उद्वार'' के लिये BSP का मुख्य लक्ष्य है। पिछड़ी जातियों के अधिकारों के हितरक्षक डा.बी.आर. आम्बेडकर बी.एस.पी. के संवर्ग (cadre) के अनुप्रतीक व वैचारिक गुरू बन गये। इस दल की राजनैतिक रणनीति दलित नायको की गाथा सुनाना, स्मारक बनाना और बार-बार उनकी कहानियों के इर्द गिर्द समारोह आयोजित करना रही। जिससे लोगो के जहन में एक संग्रहित स्मृति स्थापित कर उसको स्थायी बनाया जा सके।

1973 में कांशीराम ने 'पिछडी अल्पसंख्यक समुदाय कर्मचारी संघ (BAMCEF) की स्थापना की जिसका ध्येयंवाक्य (motto) था 'शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो'। कांशीराम अपने संपर्क तंत्र को बढ़ाते हुये लोगों को जाति व्यवस्था की असलियत से अवगत

कराते रहे, कि कैसे ये भारत में कार्य करती है और अंबेडकर की शिक्षा क्या है। सन 1980 में कांशीराम उन्होने 'अंबेडकर मेंला' के रूप में रोड़ शो आयोजित किया जिसमें चित्रों और वर्णन के द्वारा अंबेडकर के जीवन और विचारों को प्रतिबिंबित किया गया। कांशीराम ने 1981 में दलित शोषित समाज संघर्ष समिति की स्थापना की।

9.6.4 मायावती प्रभुदास

चार विभिन्न कार्यकालों में मायावती उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनी। वह बहुजन समाज पार्टी की राष्ट्रीय अध्यक्ष है। उन्होने भारतीय समाज के दुर्बलतम स्तर पर रहने वाले बहुजनों तथा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति, अन्यपिछड़े वर्गों और धार्मिक, अल्पसंख्यकों के जीवन में सुधार के लिये सामाजिक परिवर्तन को मंच बनाने पर जोर दिया। भूतपूर्व प्रधानमंत्री पी.वी.नरसिंहाराव ने मायावती का वर्णन ''प्रजातंत्र का चमत्कार'' कह कर किया। अपने कार्यकाल के दौरान मायावती ने सभी कमिश्नरों और जिलाधीश को निर्देश दिये कि एक विशेष अभियान के द्वारा समाज के कमजोर वर्गों को 3 एकड़ भूमि या पट्टा वितरित की जाये, इसके लिये जिनके पास अनाधिकृत रूप से पट्टा है, उनसे वो भूमि ग्रहण की जाये और सही पात्र अर्थात उपयुक्त निर्धन की पट्टों की निरंतर निगरानी करके पहचान करके उन्हे वो जमीन दी जाये तथा विभिन्न विकास एवं कल्याण कार्यक्रमों की प्रत्यक्ष जांच करके माध्यम से माफिया और दबंगों के विरूद्व सख्त कार्यवाही की जाये। वर्ष 2010 में 5596 अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगो को 1054.879 हैक्टर कृषि भूमि आवंटित की गयी। एक विशेष अभियान के अन्तर्गत 74 प्रथम दृष्टि सूचना (FIR) दर्ज की गयी और 88 लोगों को गैर कानूनी रूप से कृषि भूमि पर अधिकार रखने के लिये बंदी बनाया गया। मायावती के नेतृत्व में, सरकार ने निम्नलिखित निर्णय लिये (मार्च 2007 से मई 2008 तक) जैसे:-

(1) पिछले बकाया (backlog) आरक्षित पदों पर नियुक्ति के लिये विशेष अभियान (2) निजी उद्यमों में अनुसूचित जाति/जनजाति के लिये आरक्षण के प्रावधान (3) अनुसूचित जाति/जनजाति की छात्रवृतियों में पारदर्शिता के लिये कंप्यूटरीकरण (4) महामाया गृह योजना (5) शहरी निर्धनों के घर की सुविधा लाये श्री कांशीराम शहरी गरीब आवास योजना (6) दलितों के लिये सामूहिक केन्द्र (7) जननी सुरक्षा योजना जिसके अंतर्गत उपयुक्त गर्भवती महिला को 1400 रूपये की सहायता राशि दी जाए। दलित सशक्तिकरण में मायावती का भारतीय राजनीति में बड़ा योगदान है। उन्होने इस समुदाय को आत्मविश्वास की वो भावना दी जो अम्बेडकर और कांशीराम भी कभी नहीं दे पाये।

9.7 दलित महिलाओं का आंदोलन

जनवरी 1928 में, बाम्बे में रमाबाई अम्बेडकर, डा. अम्बेडकर की पत्नी की अध्यक्षता में एक महिला संघ की स्थापना की गई थी। 20 जुलाई 1942 को, ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेस'' महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया था, और 25000 महिलाओं ने उस सम्मेलन में भाग लिया था। इस प्रकार दलित सम्मेलन में उच्चजाति की महिलाओं को भी उत्पीड़न झेलने के कारण दलित माना 1993 में ''रूथ मनोरमा'' द्वारा (NFDW) ''द नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित महिला (NFDW) का गठन किया गया था। जिसने दलित महिला संगठन को दलित महिला हिंसा के खिलाफ आवाज बुलंद की और जाति के प्रश्न का गंभीरतापूर्वक हल निकाला था। 1995 में महाराष्ट्र में दलित महिलाओं द्वारा दलित महिलाओं का गठन किया गया था इसने बीजिंग में ओयोजित ''इनटेनेशनल वूमेन

कॉन्फ्रेंस'' में दलित महिलाओं के सवाल का प्रतिनिधित्व करने पर ध्यान केंद्रित किया। 1993 में जाति नस्लवाद पर डरबन आयोजित सम्मेलन में और 1995 में बेजिंग में अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में दलित महिलाओं का, आत्म प्रतिनिधित्व दलित महिलाओं की राजनीति के इतिहास में दलित आंदोलन की अग्रणी विलक्षण घटनाएँ है। रमाबाई अम्बेडकर श्रीमती अंजनिबाई देशभ्रतार, श्रीमती गीताबाई गायकवाड़, श्रीमती कीर्तिबाई पाटिल, सुलोचनाबाई डोगरे दलित महिला आंदोलन के मुख्य समर्थक थे।

दलित नारीवादियों ने दलित महिलाओं के तीन तरफा शोषण को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था। जो इस प्रकार हैं-

1) उच्च जातियों द्वारा दबाया गये दलितों।

2) मुख्य रूप से उच्च जातियों के स्वामियों के हाथों उत्पीड़ित कृषि कामगार वर्ग।

3) महिलाओं का सभी पुरुषों द्वारा पितृसत्तात्मक उत्पीड़न जिससे उनकी स्वंय की जाति के पुरुष भी सम्मिलित थे।

दलित महिला आंदोलन के वर्तमान लक्ष्य निम्नानुसार हैं-

1) महिलाओं के कार्य क्षेत्र में जातिगत समीकरणों को बदलने।

2) स्थानीय महिलाओं के नेतृत्व को बढावा देने।

3) महिलाओं और पुरुषों के खिलाफ सभी प्रकार की हिंसा का सख्ती से विरोध करना।

4) चुनावों के दौरान उच्च जातियों के सदस्यों के साथ अपनी शर्तों पर बातचीत करना।

5) ये सुनिश्चित करना कि नयी दलित सरकार द्वारा घोषित सरकारी योजनाओं के लाभ सभी उपयुक्त दलितों को पहुचे।

एक दलित महिला को स्त्री होने के कारण लैंगिक भेदभाव, दलित, होने के कारण जातिगत और आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ता हैं। साथ ही साथ वह पितृसत्तात्मकता से भी सतायी जाती है पितृसतात्मकता से दलित समुदाय भी मुक्त नही हैं। वह उस संस्कृतिक समृद्वि से भी वंचित रहने का उत्पीड़न सहती है जिसे सभी दलित झेलते है। अम्बेड़कर ने न केवल दलितो अपितु दलित महिलाओं के अधिकारों के बारे में बोला और संघर्ष किया। उनका तर्क था कि प्रथाएं जैसे सतीप्रथा, थोपा गया वैधव्य और बाल विवाह जिन्हें ब्राह्मणों के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने और सीमाओं का उल्लंघन न करने के लिये बनाया गया।

बोध प्रश्न 3

नोटः1) प्रश्नों के उत्तर देने के लिए नीचे दिए गए स्थान का उपयोग करें।

2) अपने उत्तर की तुलना अंत में अवश्यक करें।

1) स्वतंत्रपूर्व भारत में दलित आंदोलन का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्वतंत्र भारत में दलित आंदोलन की व्याख्या करे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.7 सारांश

इसमें संदेह नही की दलित आंदोलन भारतीय समाज को पारंम्परिक पदक्रम में वृहद परिवर्तन लाया है। इसने विभिन्न जाति और वर्गों के लोगों के बीच स्वतंत्रता, समानता और समाजिक न्याय के लोकतांत्रिक आदर्शों को प्रोत्साहित किया है। दलित आंदोलनों ने दलितों की पहचान और राजनैतिक पदों तथा सरकारी नौकरियों में दलितों के आरक्षण से संबंधी समस्याओं को उठाया। भेदभाव और अस्पृश्यता के प्रचलन का सख्ती से विरोध किया। ये आंदोलन दलितों को मुख्यधारा की राजनीति में लेकर आये और उन्हें देश के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर आसीन किया। दलित साहित्य दलित बुद्धि जीवियों को उनके अधिकारों का दावा करना और पदानुक्रमिक समाज में अपनी अस्मिता बनाये रखने के लिये संगठित किया। दलित आंदोलन उच्च जाति और वर्ग के लिये सीधी चुनौती थी और इसमें मुख्यधारा की राजनीति से लेकर सरकार तक एक सशक्त दबाव समूह के रूप में कार्य किया है। इस प्रकार प्रमुख रूप से सामजिक, आर्थिक राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए दलित आंदोलन एक शक्तिशाली सामाजिक आंदोलन बन गया है।

9.8 संदर्भ

Beteille Andre (1969), *"Castes old and new"*, Bombay: Asia Publishing House.

Beteille Andre (1991). *Society and politics in India: Essays in a comparative perspective*. London: The Athlone press.

Dadawala Darshini.(2016). Dalit Literature Concept, Origin and Features, *International Journal of English, Language ,Literature and Humanities*, February volume –IV, Issue –II.

Dube. S. C. (1955). *Indian Village*. London: Routledge and Kegan Paul.

Dube. S. C. (1958) India's Changing Villages, Routledge and Kegan Paul, London

Gooptu Nandini. (1993). Caste, Deprivation and Politics. The Untouchability in UP town in early 20th century, in Dalit *Movement and the means of labour in India* edited by Peter Robb. Delhi: Oxford University Press.

G.S.Ghurye. (1969}. *Caste and Race in India*. Bombay: Popular Prakashan.

Jord Jadhav, Narendra (1993). *Dr Ambedkar's Economic Thought and Philosophy*. Bombay: Popular Prakashan

Kshîrasâgara Râmacandra 1994 Dalit Movement in India and Its Leaders, 1857-1956 M.D Publication Private Limited, New Delhi

Kumar K.Sravana. (2016). Dalit Movements in India After 1947 *Indian Journal of Research* Volume : 5 | Issue : 8 | August.

Omvedt Gail. (1994). *Dalits and the Democratic Revolution – Dr. Ambedkar and the DalitMovement in Colonial India*, Sage Publications. ISBN 81-7036-368-3.

Omvedt Gail. (1976). *Cultural Revolt in a colonial society: The Non-Bramhan movement in Western India,*(1873- 1930) Bombay.

Rao M.S.A. (1979). *Social Movements among the Backward classes and Blacks: Homology in the sources of identity, in Social movements in India* , Delhi: Monohar publication'.

Rege Sharmila, (1998) .p.93. See http://youngfeminists. wordpress.comi2007. 112/271 on-caste-and-patriarchy.

Samaddara Ranabira, Shah Ghanshyam. (2001). *Dalit Identity and Politics* Sage Publications,. ISBN 0-7619-9508-0, ISBN 978-0-7619-9508-1.*6.*

Shah, Ghanshyam (1985) Caste Conflict and Reservations, Centre for Social Sciences, (Surat: Ajanta Publications.

Shah, Ghanshyam (ed.) (2001), Dalit Identity and Politics, Sage Publications, New Delhi.

Shah Ghanshyam. 2004. Social Movements in India: A Review of Literature, Sage Publications Pvt Ltd.

Smelser N J. (1962). *Theory of Collective Behavior*, New York: The Free Press.

Srinivas. M.N. (1955). *India's Village*, Bombay: Asia Publishing House.

Srinivas, M.N. (1997). *Caste: Its Twentieth Century Avatar* .New York: Penguin Putnam Inc.1997)

Srinivas M.N. (1977), "Social change in Modern In dia", Orient Longman, New Delhi

Srinivas M.N (1962), "*Caste in Modern India and other Essays*", (Bombay:Media promoters,) , p.5

Sutradhar Ruman. (2014). Dalit Movement in India: In the light of four Dalit literatures, *IOSR Journal of Dental and Medical Sciences (IOSR-JDMS) e-ISSN: 2279-0853, p-ISSN: 2279-0861.Volume 13, Issue 4 Ver. V. (Apr. 2014), PP 91-97*

Tilly Charles. (1978).*From Mobilization to Revolution. Publisher, McGraw-Hill,*

file:///C:/Users/user/Desktop/dalit%20movement/Dalit%20Movement_%20An%20overview,%20Dalit% 20Problems%20Movement, Sociology%20 Guide.html

http://www.patkarvardecollege.edu.in/studymaterialpdf/13SY_Socio_Paper%202_Unit%203_Sem%203_Dalit%20Mobiiisation.pdf

http://www.patkarvardecollege.edu.in/studymaterialpdf/13SY_Socio_Paper%202_Unit%203_Sem%203_Dalit%20Mobiiisation.pdf

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) दलितों को चार वर्णों वाली व्यवस्था से बाहर रखा गया है, पाँचवा वर्ण बनाया जिसे पंचम के नाम से भी जाना जाता है। अब दलित बौद्व, ईसाई और सिख धर्म सहित धार्मिक मान्यताएँ अपना रहे हैं।

2) भारत में दलित संघटन पर्याप्त रूप से यह दर्शाते है कि आधुनिकीकरण ने जाति की रीढ़ कैसे तोड़ा है। और वह दलित चेतना को वर्ग चेतना के समान रखते हुये इस दृष्टिकोण से आगे बढ़ाता है कि भारत में दलित संगटन पदानुक्रम के सिद्वान्तों के ऊपर समानता के सिद्वांतो को महत्व देते हुए आधुनिकीकरण की ओर चल रहे है।

3) स्वतंत्र भारत में दलित आन्दोलन, भक्ति आंदोलन साथ शुरू होता है। सभी वर्गों के लोगों को समानता और स्वतंत्रता की ओर प्रेरित करके दलित आंदोलन की नींव रखी गयी है। नव वैद्वांतिक आंदोलन ने उन्हे जाति व्यवस्था की तह मे ले जाने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया ने दलितों ने अपनी स्थिति संरचना का अनुसरण किया। महात्मा गांधी अस्पृश्यता काअभ्यास करते हैं। डा.बी.आर.अम्बेडकर ने भारत में दलितों की मुक्ति के लिए पूर्ण संघर्ष किया है।

4) दलित आंदोलन ने बौद्व दलित आंदोलन की शुरुआत की थी। अम्बेडकर ने उन्हे समानता का आनंद लेने और अत्याचार से बचाने के लिए दलितों को बौद्व धर्म में परिवर्तित करने के लिए संगठित किया था। अम्बेडकर ने नागरिकों के लिए व्यक्तिगत रूप में नागरिक स्वतंत्रता का संवैधानिक आश्वासन और सुरक्षा प्रदान की, जिसमें धर्म की स्वतंत्रता, अस्पृश्यता का उन्मूलन और सभी प्रकार के भेदभावों को गैर कानूनी करना शामिल किया था। दलित पैंथर्स आंदोलन कांशीराम और मायावती द्वारा ने दलितों की स्थिति को सुधारने के जो प्रयास किये, अत्यधिक सराहनीय है।

आगे पढ़ने के लिए

- श्रीनिवास एम.एन. (1997), ''कास्ट इट्स टूवेनटीनथ सेन्चुरी अवतार'' (न्यू यार्क, पेन्जीन पूटनेम प्दब1997)
- औम्वेल्ट गेल (1976) ''कल्चरल रोवाल्ट इन ए कौलोनियल सोसाइटी'' द नन ब्राह्मण मुवमेन्ट इन वेस्टर्न इंडिया (1973-1930) बाम्बे।
- रॉव एम.एस.ए. (1979) शोसल मुवमेन्ट एमौन्ग द वैकवर्ड क्लास एंड बैल्क, ''होनोलॉजी इन द सोर्स ऑफ आइडैंटीटी,'' ''इन शोसल मुवमेन्ट इन इंडिया'' दिल्ली। मोनोहर पब्लिकेशन।
- शाह घनश्याम (मक)(2001) दलित आडेन्टीटी एंड पालिटिक्स नई दिल्ली सागा पब्लिकेशन।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Srinivas, M.N. (1997). *Caste: Its Twentieth Century Avatar* , (New York: Penguin Putnam Inc.1997)

Omvedt Gail (1976) *Cultural Revolt in a colonial society: The Non-Bramhan movement in Western India,*(1873- 1930) Bombay.

Rao M.S.A. (1979) *Social Movements among the Backward classes and Blacks: Homology in the sources of identity, in Social movements in India*. Delhi: Monohar publication'.

Shah, Ghanshyam (ed.) (2001). *Dalit Identity and Politics*. New Delhi: Sage Publications.

इकाई 10 भारत में महिला आंदोलन*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 महिला आंदोलन : सामाजिक आंदोलन का एक प्रकार

10.3 उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सुधार-आंदोलन और महिलाओं से जुड़े मुद्दे

- 10.3.1 ब्रह्म समाज
- 10.3.2 प्रार्थना समाज
- 10.3.3 आर्य समाज
- 10.3.4 मुस्लिम महिलाएँ और सामाजिक सुधार

10.4 स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता

- 10.4.1 महात्मा गाँधी और पंडित नेहरू की भूमिका
- 10.4.2 महिलाओं के संगठन और मुद्दे
- 10.4.3 स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता के रूप

10.5 स्वतंत्रता - पश्चात् काल में संस्थागत पहल और महिलाओं से जुड़े मुद्दे

- 10.5.1 संवैधानिक (उपबंध) प्रावधान और सामाजिक कानून
- 10.5.2 नियोजित विकास और महिलाओं से जुड़े मुद्दे
- 10.5.3 महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व

10.6 70 के दशक में महिलाओं के आंदोलन का पुनरूत्थान : मुद्दे और कार्यवाही

- 10.6.1 नए संगठनों और दृष्टिकोणों का उदय
- 10.6.2 वन-कटाई और पारिस्थितिकी आंदोलन
- 10.6.3 70 और 80 के दशक में मुद्दों पर आधारित आंदोलन
- 10.6.4 उभरती प्रवृत्तियाँ और सरकार की प्रतिक्रिया

10.7 समकालीन काल में महिला आंदोलन

10.8 सारांश

10.9 संदर्भ

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमने भारत में महिला आंदोलनों के ऐतिहासिक और समकालीन आयामों की चर्चा की है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप के लिए संभव होगा

- महिला आंदोलन की सामाजिक आंदोलन के रूप में व्याख्या करना
- 19 वीं और 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध के सुधार आंदोलनों में किस प्रकार महिला समस्याएँ उजागर हुई - इसकी चर्चा करना

* यह इकाई ई.एस.ओ–12, इकाई 30 से अंगीकृत है।

- महिला संगठनों के आधारभूत पहलुओं और मुद्दों की स्वतंत्रता आंदोलन में सहभागिता को बताना और उनकी व्याख्या करना
- स्वातन्त्रयोत्तर काल में महिला आंदोलन के बदलते पहलुओं की विवेचना करना
- 19 वीं सदी के 70 और 80 दशक में महिला आंदोलन के पुनरूत्थान की व्याख्या करना।

10.1 प्रस्तावना

समाजिक आंदोलन को लोगों के समूह द्वारा किए गए संगठित प्रयास के रूप में परिभाषित किया गया है जो समाज में परिवर्तन लाने अथवा परिवर्तन का विरोध करने के लिए होता है। महिला आंदोलन समाजिक आंदोलन का एक महत्वपूर्ण प्रकार इस दृष्टि से है कि इसका उद्देश्य इन संस्थागत प्रबंधों, मूल्यों, रीति-रिवाजों और समाज की आस्थाओं में परिवर्तन लाना है जिन्होने वर्षों से महिलाओं को पराधीन कर रखा है। इस इकाई के भाग 10.2 में महिला आंदोलन की सामाजिक आंदोलन के एक महत्वपूर्ण प्रकार के रूप में चर्चा की गयी है। 19 वीं और 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध के सुधार आंदोलन में महिलाओं के मुद्दों पर ध्यान दिया गया। महिलाओं की समस्याओं को वृहत परिप्रेक्ष्य में उजागर करने में ब्रहम समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इन पहलूओं को भाग 10.3 में दिया गया है। इसी भाग में मुस्लिम महिलाओं के बीच समाज सुधारों की चर्चा की गई है। भाग 10.4 में स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं के संगठन और सहभागिता के पहलूओं के बारे में जानकारी दी गई है। इसी भाग में यह भी बताया गया है कि स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए किस प्रकार महात्मा गाँधी और पंडित नेहरू ने महिलाओं को प्रोत्साहित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के काल में महिलाओं के लिए संवैधानिक प्रावधानों और सामाजिक कानूनों, नियोजित आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन ने महिला आंदोलन को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। भाग 10.5 में हमने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के समय में महिला आंदोलन के बदलते हुए पहलुओं की चर्चा की है। 1970 तथा 1980 के दशकों में भारत में महिला आंदोलन के पुनरूत्थान का वर्णन किया गया है। इस पहलू की विवेचना भाग 10.6 में की गई है। यहाँ पर हमने पारस्थितिकी, सामाजिक और आर्थिक मुद्दों के आधार पर महिलाओं के संगठित होने के प्रयासों की चर्चा की है। 1970 और 1980 के दशकों में मुद्दों पर आधारित आंदोलनों में दहेज विरोधी, सती विरोधी, बलात्कार विरोधी आंदोलन शामिल थे। यहाँ पर हमने समकालीन महिला आंदोलन की उभरती हुई धारणाओं और महिला समस्याओं के प्रति सरकार की प्रतिक्रिया की चर्चा की है।

10.2 महिला आंदोलन : सामाजिक आंदोलन का एक प्रकार

सामाजिक आंदोलनों का अध्ययन करना केवल इतिहासकारों के अध्ययन का विषय नहीं है। सामाजिक संरचना, प्रक्रिया और परिवर्तन के अध्ययन के साथ-साथ सामाजिक आंदोलन में समाजशास्त्रियों की भी बहुत रूचि है। सामाजिक आंदोलन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा परिवर्तन में गतिशीलता या विरोध को सामूहिक प्रयास द्वारा लाया जा सकता है। परिवर्तन के संदर्भ में सामाजिक आंदोलन में तथा सामाजिक गतिशीलता की विकास मूलक (उद्विकासीय) प्रक्रिया में अन्तर होता है। यह अंतर इस अर्थ में है कि आंदोलन समाज के एक या अनेक वर्गो में पाए जाने वाले अन्याय तथा दमन की अनुभूतियों पर आधारित होता है। सामाजिक आंदोलन विभिन्न विषयों पर ध्यान आकर्षित करने के लिए विरोध,

मुकाबले या संघर्ष को एक माध्यम के रूप में ग्रहण करता है और इसका प्रयास होता है कि परम्परागत सामाजिक संरचनाओं और असमान तथा दमनकारी सामाजिक संबंधो में गुणात्मक परिवर्तन लाया जाये। महिला आंदोलन सामाजिक आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण प्रकार है। यह जनजातीय और धार्मिक आंदोलनों आदि जैसे सामाजिक आंदोलनों पर हुए अध्ययनों का एक महत्वपूर्ण परन्तु उपेक्षित पहलू है।

भारतीय समाज में, जाति, वर्ग, धार्मिक और नृजातीय विभेदों के आधार पर देश के विभिन्न भागों में महिलाओं के जीवन और समस्याओं में अंतर किया जाता है। भारत में बहुसंख्यक लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते है और इन क्षेत्रों में विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया महिलाओं के विभिन्न वर्गो को भिन्न-भिन्न तरीके से प्रभावित करती है। सांस्कृतिक रूप से भिन्न और स्तरित अथवा असमान समाज के संदर्भ में महिलाओं के आंदोलन के आविर्भाव को समझने की आवश्यकता है। इस इकाई में महिला आंदोलन की चार शीर्षकों के अंतर्गत चर्चा की गयी है :

i) सुघार आंदोलन और महिलाओं के मुद्दे

ii) महिलाओं की स्वतंत्रता आंदोलन में सहभागिता

iii) स्वतन्त्रता-पश्चात् काल में संस्थागत पहल और महिलाओं से जुड़े मुद्दे

iv) 1970 और 80 के दशक में महिला आंदोलन का पुनरूत्थान

यहाँ पर सबसे पहले सुधार आंदोलन और महिलाओं के मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

10.3 उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सुधार आंदोलन और महिलाओं से जुड़े मुद्दें

भारत में महिलाओं की परिस्थिति विभिन्न कालों और विभिन्न वर्गो, धर्म और नृजातीय समूहों में अलग-अलग रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में महिलाओं से संबंधित बहुत सी सामाजिक बुराइयाँ जैसे सती प्रथा (विधवा का अपने पति के साथ चिता में जीवित जल जाना), बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह पर निषेध, बहु विवाह इत्यादि फैली हुई थी जो वाद-विवाद का विषय बनी हुई थी।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश काल के दौरान अंग्रेजी शिक्षा और भारतीयों के बीच पश्चिमी उदारवादी विचारधारा के प्रसार तथा ईसाई धर्म और मिशनरी क्रियाकलापों के प्रसार के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तनों और धार्मिक सुधारों के लिए बहुत से आंदोलन हुए।

इन आंदोलनों के मुख्य उद्देश्य जाति सुधार, महिलाओं की मान प्रतिष्ठा में वृद्धि, महिला शिक्षा से प्रोत्साहन और विभिन्न समुदायों में फैली हुई सामाजिक बुराइयों पर प्रहार करना था, जिनकी जडें सामाजिक और वैधानिक तथा धार्मिक परम्पराओं से जुड़ी हुई थी।

उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सुधार आंदोलनों के प्रारम्भिक चरण में राजा राम मोहन राय जैसे पुरुष सुधारकों द्वारा पहल की गई। इनके अंतर्गत जिन समस्याओं पर विचार विमर्श किया गया उनमें सती प्रथा, विधवाओ के साथ दुर्व्यवहार, विधवा पुनर्विवाह, बहु विवाह, बाल विवाह और सम्पत्ति पर महिलाओं का अधिकार न होना और महिला शिक्षा की आवश्यकता प्रमुख थी। पुरुषों द्वारा महिला शिक्षा के लिए शुरू किए गए संघर्ष के परिणामस्वरूप

महिलाओं के लिए स्कूलों/कालेजों, विद्यालयों, महाविद्यालयों, छात्रावास, विधवा आश्रम और रक्षा निकेतन आदि की स्थापना की गई। समाज सुधारकों की धारणा थी कि महिला शिक्षा परिवारिक व्यवस्था को पुनर्जीवित कर सकेगी जिसको शिक्षित पुरुषों और उनकी अशिक्षित पत्नियों के बीच संवादहीनता (संपर्क दूरी) ने संकट में डाल दिया था। इस प्रकार समाज सुधार आंदोलन के फलस्वरूप महिला संगठनों और संस्थानों का आविर्भाव देखने में आया हाँलाकि, ये आंदोलन पुरुषों द्वारा आगे बढ़ाए गए और इनका प्रारम्भ महानगरों से हुआ।

समाज सुधार आंदोलन के नेताओं ने यह महसूस किया कि धार्मिक सुधारों को समाज सुधार से अलग नही किया जा सकता। अंग्रजों की नीति थी कि विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक दूसरे से अलग रखा जाए और प्रत्येक समुदाय के पारिवारिक कानूनों को पूर्ववत रखा जाए जो कि प्रत्येक समुदाय के धार्मिक और परम्परागत रीति-रिवाजों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। इसी कारण से, समाज सुधार आंदोलन कभी भी संगठित रूप से विकसित नही हो सके बल्कि वे प्रत्येक समुदाय के दायरों में विकसित हुए।

इस काल ने विभिन्न संगठनों की तीव्र वृद्धि को देखा। इन संगठनों ने उन महत्वपूर्ण समस्याओं पर ध्यान दिया जिनसे समाज में महिलाओं की परिस्थति पर विपरीत प्रभाव पड़ता था। इन संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण संगठन ब्रहम समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज थे। निम्नलिखित भागों में, हम इन संगठनों पर संक्षिप्त रूप में चर्चा करेंगे।

10.3.1 ब्रह्म समाज

ब्रहम समाज की स्थापना 1825 में राजा राम मोहन राय द्वारा की गई थी और इसका उद्देश्य महिलाओं के विरूद्ध प्रतिबंधो और पूर्वाग्रहों को उखाड़ फेंकना था जिसकी जड़ें धर्म में थी। इसमें बाल बहुपत्नी विवाह, बहु विवाह, उत्तराधिकारी में प्राप्त सम्पत्ति में सीमित अधिकार और महिलाओं का पृथक्ककरण सम्मिलित थे। महिलाओं की शिक्षा को महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा गया। केशव चन्द्र सेन ने घर पर महिलाओं को शिक्षित करने की आवश्यकता पर जोर दिया और इस उद्देश्य के लिए सरकारी समर्थन माँगा गया। महिलाओं की 'बामाबोधिनी पत्रिका' नामक एक पत्रिका का प्रारम्भ किया गया। ब्रहम समाज की देखरेख में अन्तर्जातीय विवाह भी कराए गए। इस प्रकार के प्रयासों को हिन्दू कट्टरवादिता के विरोध का सामना करना पड़ा और इसके फलस्वरूप 1872 में सिविल मैरिज एक्ट पास किया गया। इस अधिनियम ने अंतर्जातीय विवाह और तलाक के लिए इजाजत दे दी और लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु 14 वर्ष और लड़कों के लिए 18 वर्ष निश्चित की गई। ब्रहम समाज का प्रभाव केवल बंगाल और उत्तर भारत तक ही सीमित रहा।

10.3.2 प्रार्थना समाज

इसकी स्थापना 1867 में की गई थी और इसके उद्देश्य भी ब्रहम समाज जैसे ही थे। हालांकि यह पश्चिमी भारत तक ही सीमित रहा। एम.जी.रानाड़े और आर.जी.भण्डारकर इसके अगुवा थे। 1869 में बॉम्बे विडोज रिफार्म्स एसोसियेशन की स्थापना की गई और इसने 1869 में पहला विधवा पुनर्विवाह कराया। प्रार्थना समाज के दो नेता, आर.जी.भण्डारकर और एन.जी. चन्द्रावरकर, बाद में प्रथम महिला विश्वविद्यालय के उप-कुलपति बने। इस विश्वविद्यालय की स्थापना कर्वे ने 1916 में बम्बई में की थी। बाद में इसका नाम बदलकर एस.एन.डी.टी. (SNDT) महिला विश्वविद्यालय कर दिया गया।

इन दोनो आंदोलनों का जोर महिलाओं की शिक्षा पर था जिसमें आधुनिक शिक्षा से लाभ प्राप्त किए हुए पुरुषों और परिवार की महिलाओं के बीच बढ़ते हुए अंतर को कम किया जा सके।

इसका विचार उन्हें बेहतर माँ और पत्नी बनाना था। महिला शिक्षा पर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भड़के वाद-विवाद ने दर्शाया कि यह केवल पश्चिमी शिक्षा के प्रयासों से उत्पन्न नहीं हुआ। अन्य सुधारकों ने भी महिलाओं की शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया।

ये दोनो आंदोलन शहरी, पश्चिमी में शिक्षित पुरुषों की प्रतिक्रिया का परिणाम थे और इनका उद्देश्य परिवार के अंतर्गत महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन लाना था।

10.3.3 आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 में की थी। उपर्युक्त दोनों आंदोलन के विपरीत, आर्य समाज एक धार्मिक पुनर्जागरणवादी आंदोलन था। हिन्दू धार्मिक कट्टरता, मूर्ति पूजा और जाति भेद वाले समाज को अस्वीकार करते हुए इस आंदोलन का नारा था - वापस वैदिक काल में चलो। प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति का शानदार चित्रण करते हुए इस आंदोलन ने जाति प्रथा में सुधार, पुरुषों और महिलाओं दोनो के लिए आवश्यक शिक्षा, कानून द्वारा बाल विवाह का निषेध, बाल विधवा के पुनर्विवाह का समर्थन किया। सामान्यतः यह आंदोलन तलाक (विवाह-विच्छेद) और विधवा पुनर्विवाह के विरूद्ध था और इसमें लड़के तथा लड़कियों के लिए अलग-अलग विद्यालय पर जोर दिया। अनेक आर्य कन्या पाठशालाएँ खोली गई जो बाद में महाविद्यालय बन गई और इन्होने महिला शिक्षा में अपना योगदान दिया। यद्यपि मुख्यतः यह शहरी आंदोलन था फिर भी इसका प्रभाव अर्ध-शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों तक पड़ा था। इस आंदोलन ने जाति व्यवस्था को अस्वीकार किया परन्तु कभी भी इसके उन्मूलन की मांग नही की। जाति समूहों के अन्दर तय (अरेंज) विवाह को प्राथमिकता और महिलाओं की घरेलू भूमिका पर जोर देने ने इसके महिलाओं की मुक्ति के ध्येय में योगदान को सीमित कर दिया।

राजा राम मोहन राय, रानाड़े और दयानन्द सरस्वती जैसे समाज सुधारकों ने प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति की प्रशंसा की है। जबकि, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फूले और लोकहितवादी गोपाल हरि देशमुख जैसे अति उग्रवादियों ने जाति प्रथा पर प्रतिघात किया और कहा कि महिलाओं के दमन के लिए जाति प्रथा ही उत्तरदायी है। फूले ने कहा कि शुद्र और महिलाओं को शिक्षा की मनाही कर दी गई ताकि वे समानता और स्वतंत्रता के मानव अधिकारों के महत्व को समझ ही न सके और कानून, रीति-रिवाज और परम्पराओं में दी गयी अपनी निम्न स्थिति को भी स्वीकार कर लें।

10.3.4 मुस्लिम महिलाएँ और समाज सुधार

इसी प्रकार के आंदोलन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुस्लिम समुदाय में भी प्रारम्भ हो गए। पर्दा प्रथा पर जोर और महिलाओं के बीच शिक्षा के मन्द प्रसार के कारण आंदोलन के विकास और मुस्लिम महिलाओं के लिए सुधार के अवसरों में देर लगी। भोपाल की बेगम, सैयद,अहमद खान, अलीगढ़ के शेख अब्दुल्ला और लखनऊ के करामत हुसैन जैसे व्यक्तियों ने महिला शिक्षा में सुधार के लिए एक आंदोलन का नेतृत्व किया। 1916 में भोपाल की बेगम ने अखिल भारतीय मुस्लिम महिला सम्मेलन की स्थापना की। मुस्लिम समाज के

परम्परावादियों ने ऐसे क्रियाकलापों को अस्वीकार कर दिया और 1917 में मुस्लिम महिला सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्ताव से भड़क उठे जिसमें यह कहा गया था कि बहुविवाह का उन्मूलन होना चाहिए। बाद के वर्षों में अनेक मुस्लिम महिलाओं ने अंग्रेजों के विरूद्ध राष्ट्रवादी संघर्ष और असहयोग आंदोलन में भाग लिया। इसी प्रकार के आंदोलन विभिन्न क्षेत्रों में अन्य समुदायों के बीच भी उभरे। पंडिता रमाबाई और विद्यागौरी नीलकण्ठ जैसी कुछ महिला नेताओं को जाति से बाहर विवाह करने अथवा शिक्षा ग्रहण करने के कारण कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

सामाजिक संरचना और जाति असमानताओं जिन्होने महिलाओं की निम्न स्थिति को स्थायी बनाया था, को चुनौती दिये बिना ये सभी आंदोलन परिवार के अन्तर्गत महिलाओं की स्थिति बदलने हेतु सीमित परिप्रेक्ष्य रखते थे। इनकी अपील केवल शहरी मध्यम वर्ग तक सीमित थी। तर्को में सुधार आंदोलन की महिला-पुरुष के बीच सामाजिक भेदभाव को मान्यता देने की प्रवृत्ति सुस्पष्ट थी कि शिक्षा महिलाओं की पत्नियों और माताओं के रूप में क्षमता को सुधारेगी/महिला-पुरुष में समानता (लैंगिक समानता) लाने का ध्येय उनके कार्यक्रम में नही था।

धार्मिक रूढ़िवादिता पर जो महिलाओं के दमन का समर्थन करते थे, उन कट्टरपंथी पर एक हमले के रूप में आंदोलन की कल्पना नहीं की गई थी, सामाजिक सुधारकों ने महिलाओं से जुड़े प्रश्नों को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा था।

बोध प्रश्न 1

i) उन्नीसवीं सदी के सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के प्रमुख उद्देश्य क्या थे? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) ब्रहम समाज द्वारा उठाए गए महिलाओं के कौन-कौन से प्रमुख मुद्दे थे ? लगभग चार पक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

10.4 स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, महिला अधिकार और समानता के लिए संघर्ष के एक अभिन्न अंग के रूप में देखा गया। बहुत सी महिलाएँ जिन्होनें देश की स्वतंत्रता के लिए कार्य किया वे महिला अधिकारों के मुद्दे के प्रति भी सक्रिय थी। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। इसके 1889 के बम्बई अधिवेशन में दस महिलाओं ने भाग लिया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मध्यम वर्ग में महिला शिक्षा के प्रसार के साथ बहुत सी महिलाएँ भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में सक्रिय हो गयी थी। गाँधी जी का महिलाओं से आहवान और भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की बड़ी संख्या में सहभागिता ने राष्ट्रवादी नेताओं के विचारों में परिवर्तन ला दिया था।

10.4.1 महात्मा गाँधी और पंडित नेहरू की भूमिका

महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं के बड़ी संख्या में सम्मिलित होने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसीलिए महिला आंदोलन पर गाँधीवादी विचारधारा के प्रभाव को समझना महत्वपूर्ण है। उन्होने घोषणा की " महिला पुरुष की सद्धचरी है, उसे भी समान मानसिक योग्यताएँ प्राप्त है। उन्हें पुरुषों के छोटे से छोटे क्रियाकलापों में भाग लेने का अधिकार है और उन्हें भी पुरुषों के समान स्वतंत्रता का अधिकार है। ..... मात्र दोषपूर्ण रीति-रिवाजों के बल पर अत्यधिक अज्ञानी, निकम्में पुरुष भी महिलाओं के ऊपर श्रेष्ठता का सुख उपभोग कर रहे है, जिसके वे योग्य नहीं थे और न ही होंगे।" उन्होने कहा " मैं महिला अधिकारों के मामले में समझौता नहीं करता।" फिर भी उन्होने महिला कष्टों की प्रतीक सीता, दमयन्ती जैसे पौराणिक चरित्रों को आदर्श रूप में देखा। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओ का भाग लेना उनके "धर्म" (कर्त्तव्य) का एक अभिन्न अंग था। उन्होंने अनुभव किया कि सत्याग्रह आंदोलन के लिए महिलाएँ सबसे अधिक उपयुक्त है जैसा कि उनमें अहिंसात्मक संघर्ष और कांग्रेस के रचनात्मक सामाजिक उत्थान कार्यक्रमों के लिए उपयुक्त गुण थे। उन्होंने कहा कि महिलाओं में स्व-बलिदान और सहिष्णुता का बहुत बड़ा गुण है और उनमे दुखों को झेलने कि वह योग्यता है जिसकी अहिंसात्मक संघर्ष के लिए आवश्यकता थी। उन्होंने महिलाओं की भूमिका को पुरुषों की भूमिका के पूरक के रूप में देखा।

जवाहरलाल नेहरू पश्चिमी महिला मताधिकार से प्रेरित थे और वह पश्चिम में महिलाओं के सवाल पर उदार विचारों के संपर्क में थे। उनका मानना था "आर्थिक स्वतंत्रता के बिना महिला समानता के अन्य पहलूओं को पूर्णरूप से नहीं समझा जा सकेगा।" वह इस दृष्टिकोण से असहमत थे कि केवल महिला शिक्षा के सहारे वांछित परिवर्तन लाए जा सकते है और उनकी इच्छा थी कि महिलायें सभी क्रिया कलापों में प्रशिक्षित हो उन्होंने कहा कि महिलाएँ प्रशिक्षित होनी चाहिए। महिलाओं का संघर्ष सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्ष से अलग रह गया तो उनके आंदोलन को अधिक सुदृढ़ता नहीं मिलेगी और यह केवल उच्च वर्ग की महिलाओं तक ही सीमित रह जाएँगे।"

इसमे कोई संदेह नही है कि एक अकेला कारक जिसने भारतीय समाज में महिलाओं की भूमिका और प्ररिस्थति को परिवर्तित करने में सहयोग दिया वह महिलाओं का व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेना था। 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मौलिक अधिकार प्रस्ताव में पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता को एक उद्देश्य के रूप में माना गया।

10.4.2 महिलाओं के संगठन और मुद्दे

महिलाओं की संस्थाओं के अर्विभाव का समाज सुधार आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन दोनों के साथ घनिष्ठ संबंध था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अनेक महिला संस्थाओं की स्थापना की गई। 1917 में मारग्रेट कजन्स (cousins), एक आयरिश और भारतीय राष्ट्रवादी, ने विमेन्स इण्डिया एसोसियेशन (Women's India Association) बनाई। इसके बाद 1926 में

नेशनल काउन्सिल ऑफ इण्डिन विमेन (National Council of Indian Women) और 1927 में अखिल भारतीय महिला परिषद (All India Women's Conference) बनाई गयी। गुजरात में ज्योति संघ (1934) ने महिलाओं की शक्ति को काम में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय बहुत सी महिलाएँ महिला संस्थाओं की संस्थापक बन गई।

i) **महिला मताधिकार**

1917 में पहली बार महिलाओं के वोट डालने के अधिकार की माँग उठाई गई। महिला मताधिकार के लिए माँग पेश करने हेतु महिलाओं का एक शिष्ट मण्डल वायसराय से मिला इसमें सरोजनी नायडू और मारग्रेट कजन्स भी शामिल थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस विचार का समर्थन किया और 1919 में संवैधानिक सुधारों ने इस मुद्दे पर निर्णय करने के लिए प्रान्तीय विधानमण्डलों को अनुमति प्रदान की। मद्रास पहला प्रांत या जिसमें महिलाओं को वोट डालने का अधिकार दिया गया। महिलाएँ भी विधानमण्डल सभासद बन गई। 1927 में मद्रास में डा. मुथुलक्ष्मी रेड्डी पहली महिला थी जो कि विधानमण्डल की सभासद बनी। महिलाओं के मताधिकार के लिए मांग बाद में राष्ट्रीय आंदोलन के अन्तर्गत वयस्क मताधिकार में बदल गई।

ii) **स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने का प्रश्न**

स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं के सक्रिय भाग लेने और मताधिकार के लिए माँग के बावजूद 1930 में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन (Civil Disobedience Movement) प्रारम्भ हुआ तो कुछ महिला नेताओं ने सोचा कि महिला संस्थाओं को दलीय राजनीति से दूर रहना चाहिए क्योंकि उनके विचार में महिलाओं का संबंध सामाजिक समस्याओं से ही है और इन समस्याओं को हल करने के लिए शिक्षा और कानून के माध्यम से सरकार की सहायता की आवश्यकता थी। अन्य महिला नेताओं का विश्वास था कि उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में साथ देना चाहिए। उनका मानना था कि किनारे पर बैठने से किसी भी समस्या का हल नहीं निकलता और उनकी उन्नति केवल राजनीतिक उद्धार के साथ ही होगी।

कांग्रेस और महिला समूहों के बीच विकसित संबंधो तथा स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की बड़ी भागीदारी के कारण सामाजिक व शिक्षा से राजनीतिक परिप्रेक्ष्य तक सभी महिला संबंधी मुद्दों में धीरे-धीरे परिवर्तन आया।महिला अधिकारों के अनेक समर्थकों के अनुसार देश की स्वतंत्रता पर ही महिलाओं की स्वतंत्रता भी निर्भर थी। 1920 और 1930 में महिलाओं ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लिया। महिलाएँ स्वदेशी आंदोलन (देश में बनी खादी के वस्त्र पहनने का अभियान) और विदेशी वस्तुओं और शराब बेचने वाली दुकानों पर धरना देने में अधिक सक्रिय थी।

स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता के समर्थकों ने जोर दिया कि यद्यपि भारतीय संस्कृति महिलाओं की समानता को स्वीकार करती है, परन्तु भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लक्ष्य पुरुषों के लक्ष्यों से भिन्न माने गए हैं।

10.4.3 स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता के रूप

स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं ने विभिन्न कार्यों में भाग लिया। इन्होंने राजनीतिक विरोधों, विदेशी वस्तुओं को बेचने वाली दुकानों का घेराब करने और प्रभात फेरी (देश भक्ति के गीत गाना) को आयोजित करने में भाग लिया। पूरे देश में महिलाओं ने छुपे हुए

राजनीतिक कार्यकत्ताओं के लिए भोजन और आश्रय प्रदान किए, राजनैतिक कैदियों के लिए समाचार लाने। ले जाने का काम किया। 1930 में, महिलाओं ने बहुत बड़ी संख्या में नमक आंदोलन में भाग लिया (इसमे गाँधी ने लोगों से प्रार्थना की कि स्वयं नमक बनाकर नमक कानून को तोड़ो)। इसके कारण हजारों महिलाएँ जेल भी गई।

भारतीय राष्ट्रवादी समूहों के अंदर, हाँलाकि, कुछ अधिक उग्र स्वभाव के समूह भी थे, जो बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र के साथ-साथ विदेशों में भी सक्रिय थे। विदेशों में कुछ विदेशी महिलाओं ने भी भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ काम किया। भीकाजी कामा, पेरीन डी एस कैप्टन, सरला देवी चौधरानी (बंगाल), सुशीला देवी और दुर्गा देवी (पंजाब), रूपवती जैन (दिल्ली), कल्पना दत्त और कमला दास गुप्ता (कलकत्ता), लक्ष्मी सहगल (जो सुभाष चन्द्र बोस द्वारा बनाई गई इण्डियन महिला रेजीमैंट की प्रभारी थी); इन सभी महिलाओं ने क्रान्तिकारी क्रियाकलापों में भाग लिया।

राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं के भाग लेने से अनेकों पुरानी परंपराओं और रीति रिवाजों को तोड़ने में सहायता प्राप्त हुई। इसके साथ-साथ महिला संस्थाओं ने सामाजिक और वैधानिक असमर्थताओं को हटाने के लिए आवाज उठाई, फिर भी, इन संस्थाओं पर शहरी मध्यम और उच्च वर्गो का प्रभुत्व बना हुआ था। निर्धन असहाय कामकाजी परिवार की महिलाएँ और उनकी समस्याएँ बहुत कम सामने आई।

बोध प्रश्न 2

i) स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के प्रश्न पर महिलाओं की संस्थाओं द्वारा कौन-कौन सी दो विरोधी स्थितियाँ अपनाई गई थी ? आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) महिलाओं की समानता और भारतीय समाज में महिलाओं के आंदोलन के प्रति नेहरू के दृष्टिकोण पर एक लेख लिखिए। लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 स्वातंत्रयोत्तर काल में संस्थागत पहल और महिलाओं से जुड़े मुद्दे

स्वतंत्रता - पश्चात् के काल में समाज में महिलाओं के उद्धार के लिए संस्थागत पहल की एक श्रृंखला को प्रारम्भ किया गया। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहल महिलाओं के लिए

संवैधानिक प्रावधान और सामाजिक कानून तथा नियोजित आर्थिक विकास से संबंधित थी। इस समय के महिला आंदोलन इन विस्तृत सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित थे। आइए, अब इन प्रक्रियाओं के कुछ महत्वपूर्ण पहलूओं और बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इन्होनें महिला आंदोलन को किस ढ़ग से प्रभावित किया इसकी व्याख्या करें।

10.5.1 संवैधानिक प्रावधान और सामाजिक कानून

स्वतन्त्र भारत के संविधान ने महिला समानता के आधारभूत सिद्धांत का अनुसरण उसी रूप में किया है जिस रूप में कराची कांग्रेस के मौलिक अधिकार प्रस्ताव में स्वीकृत किया गया था। अनुच्छेद 15(3) उपबंध, जो राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान बनाने का अधिकार देता है, यह सुझाव देता है कि महिलाओं की प्रतिकूल स्थिति को महसूस किया गया है और राज्य को आवश्यकता है कि उन्हें पुरुषों की बराबरी में खड़ा करने के लिए विशिष्ट उपायों को लागू करें। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान यह महसूस किया गया कि राष्ट्र की स्वतंत्रता के साथ महिलाओं की बहुत सी असमर्थताएँ और समस्याएँ, जिनके लिए औपनिवेशिक राज उत्तरदायी था, समाप्त हो जांएगी। राष्ट्रीय सरकार ने उन सभी कानूनी असमर्थताओं को हटाने का जिम्मा उठाया जिनके द्वारा महिलाओं को बहुत कष्ट उठाने पड़े थे और हिन्दू परिवार कानूनों में महत्वपूर्ण सुधार करने का सूत्रपात किया था। 1950 में कानूनी सुधारों ने हिन्दू महिलाओं को विवाह, उत्तराधिकार और संरक्षणता के विस्तृत अधिकार प्रदान किए। हाँलाकि ये कानूनी और सामाजिक यथार्थता के बीच की खाई को कम करने में असफल रहे। इसी प्रकार अन्य समुदायों जैसे मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदियों के परिवार कानूनों में परिवर्तन राजनीतिक प्रतिरोधों के कारण नहीं लाए जा सके जबकि राज्य नीति के निदेर्शक सिद्धांत स्पष्ट रुप से समुदायों के लिए एक जैसे कानून की बात करते हैं।

1950 के दशक में इन वैधानिक उपायों के साथ महिला संगठन निष्क्रिय बन गए और स्वतंत्रता से पूर्व काल में दिखया गया उत्साह भी समाप्त हो गया था। इनमें क्रियाकलाप उनके अनुदान के अनुरूप बदल गए। इनमें प्रमुख थे जैसे वयस्क शिक्षा, बच्चों के लिए पोषण-आहार कार्यक्रम, व्यवसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत सिलाई कक्षाएं और परिवार नियोजन कार्यक्रम। इनमें से अधिकांश संस्थाएँ शहरी थी और इनका नेतृत्व मध्यम और उच्च वर्ग की शिक्षित महिलाओं द्वारा किया गया। स्वातंत्रयोत्तर काल में ग्रामीण महिलाओं के लिए दो महत्वपूर्ण संस्थाएँ - कस्तूरबा मैमोरियल ट्रस्ट और भारतीय ग्रामीण महिला संघ स्थापित की गई। इनका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं में नेतृत्व क्षमता के विकास में सहायता करना था।

10.5.2 नियोजित विकास और महिलाओं से जुड़े मुद्दे

स्वतंत्रता-पश्चात् काल में यह अनुमान लागाया गया था कि आर्थिक विकास नीतियाँ जैसे कृषि विकास और आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकी विकास इत्यादि महिलाओं सहित प्रत्येक के लिए बेहतर जीवन प्रदान करेंगे। परन्तु संपूर्ण विकास रणनीतियाँ विद्यमान वर्ग, जाति और महिला-पुरुष के बीच की असमानताओं की ओर ध्यान देने में असफल रही। भारत में नियोजित विकास ने सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को बढ़ाया है। आइए इस अवलोकन पर अधिक गहराई से विचार करें।

i) विकास नीतियों का जोर

विकास नीतियों का प्रमुख ध्यान महिलाओं के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण की व्यवस्था करना था। छठी पंचवर्षीय योजना तक महिलाओं की आर्थिक भूमिका के लिए नीतियों का निरंतर अभाव यह दर्शाता है कि महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता को कम प्राथमिकता दी गई। छठी योजना में पहली बार महिलाओं तथा विकास पर एक स्वतन्त्र अध्याय का समावेश किया गया। इसके अंतर्गत महिलाओं की परिस्थिति और हालात पर सामान्य तौर पर विचार किया गया और इससे यह निष्कर्ष निकला कि कानूनी तथा संवैधानिक गारंटी के बावजूद महिलाएँ लगभग हर क्षेत्र में पुरुषों से बहुत पीछे रह गई थी। पहली बार यह स्पष्ट तौर पर कहा गया कि आर्थिक स्वावलंबन से नारी की स्थिति में सुधार हो सकता है तथा यह सुझाव दिया गया कि जिला स्तर पर इकाईयाँ स्थापित की जाएं जो रोजगार प्रदान कर महिलाओं की सहभागिता को बढ़ावा दें। इसके बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में महिलाओं की परिस्थिति सुधारने के लिए कार्यक्रम सुझाए गए। नौवीं योजना ने महिला सशक्तीकरण के लिए राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता पर महिलाओं को सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में सशक्त करने के लिए महिलाओं के आरक्षण की आवश्यकता पर भी चर्चा की गई। किन्तु यह कहना पड़ेगा कि योजनाबद्ध विकास में महिलाओं का हिस्सा अपेक्षा से बहुत ही कम है (सेठ 2001)। इसके अलावा स्वतंत्रता-पश्चात् के काल में आर्थिक विकास की प्रकृति ऐसी रही कि उससे केवल शहरी मध्यम तथा उच्च वर्ग के छोटे से भाग की महिलाएँ ही लाभान्वित हो सकी। इन महिलाओं की पहचान विधायकों, प्रशासकों, डाक्टरों, वकीलों, अध्यापिकाओं इत्यादि के रूप में सामने आई और इससे एक गलत विश्वास उत्पन्न हो गया कि महिलाओं ने बहुत उन्नति और समानता प्राप्त कर ली है।

ii) महिलाओं की शैक्षणिक और आर्थिक स्थिति

भारत में महिलाओं के मुद्दों पर वाद-विवाद के संदर्भ में महिलाओं की परिस्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट (1974) एक ऐतिहासिक घटना के रूप में सामने आई। समिति ने महिला रोजगार में गिरावट के प्रमाण प्रस्तुत किए जो प्रौद्योगिकी परिवर्तनों, मालिक द्वारा महिला का स्थान पुरुषों और मशीनों को दिए जाने के कारण था। विशेष तौर पर अनुसूचित जाति, जनजाति, निर्धन ग्रामीण और शहरी महिलाओं के बीच निरक्षरता की उच्च दर को उनकी प्रशिक्षण सुविधाओं के अभाव के साथ जोड़ा गया। सन् 1981 में महिला साक्षरता की दर 29 प्रतिशत थी तथा 1991 और 2001 में यह बढ़कर क्रमशः 39.29 और 54.16 हो गयी थी। ग्रामीण क्षेत्रों में 1981 तथा 1991 में महिला साक्षरता दर क्रमशः 21 प्रतिशत तथा 30 प्रतिशत दर्ज की गई।

भारत में महिलाओं की प्रस्थिति पर गठित समिति का विचार था कि आयोजकों (योजनाकर्ता), सरकारी अधिकारियों नियोक्ताओं और ट्रेड़ यूनियन नेताओं ने मध्यम वर्ग की यह सोच-कि महिलाओं की मुख्य भूमिका केवल घर बनाने वाली के रूप में है ना कि रोजी रोटी कमाने वाली के रूप में उस सोच को बरकरार बनाये रखा था। इस प्रकार का विचार ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में गरीब वर्गो में रहने वाली लाखों महिलाओं के प्रति सच्चाई को नजर अंदाज करता है जो परिवार के जीवन निर्वाह के लिए काम करती हैं। लाखों ग्रामीण महिलाएँ अपने परिवार के खेतों पर और घर के अंदर अवैतनिक मजदूर के रूप में कार्य करती हैं, ईधन, चारा और पानी एकत्रित करती हैं, शिल्पकार, दस्तकार (बुनाई,बेंत,बांस इत्यादि के काम) के रूप में अपने

पुरुषों के साथ काम करती हैं, परन्तु इन्हें एक कामगार के रूप में न मानकर सहायक के रूप में माना जाता है। जब वे वेतन मजदूर के रूप में काम करती है तो उन्हें पुरुषों के मुकाबले कम वेतन दिया जाता है। सरकार ने समान पारिश्रमिक अधिनियम (1976) पास किया परन्तु यह अप्रभावी ही रहा। महिलाओं की आर्थिक भूमिका की उपेक्षा के निम्न परिणाम हुए।

महिला मजदूरों का शोषण, पुरुषों और महिलाओं के बीच समान काम के लिए असमान मजदूरी तथा वस्त्र, खनन, विनिर्माण और घरेलू उद्योगों जैसे परम्परागत क्षेत्रों में काम के अवसर खत्म होने के कारण अधिक बेरोजगारी।

10.5.3 महिलाओं का राजनैतिक प्रतिनिधित्व

ब्हुत सी महिला नेताओं ने जिन्होने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था, लोकसभा और राज्यसभा (संसद के दो सदन) तथा राज्य विधानसभाओं में महत्वपूर्ण पद प्राप्त किए। वे गवर्नर, मुख्यमंत्री, केबिनेट मंत्री बनी और महत्वपूर्ण राजनीतिक दलों में महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हुई। इन्दिरा गाँधी प्राधानमंत्री बनी। राजनीतिक नेतत्व के सभी स्तरों पर कुछेक महिलाओं की विशिष्टता और उच्च स्पष्टता के बावजूद भी महिलाएँ सही प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर सकी। लोकसभा या राज्य विधानसभाओं में उनकी संख्या कभी भी सात प्रतिशत से ज्यादा नही हो सकी। 13 वीं लोकसभा में अड़तालीस महिला सांसद थी।

1970 तथा 1980 के दशक में महिला संस्थाओं के राजनीतिक कार्यक्रम में एक कमजोरी यह थी कि ये साधारण महिलाओं और उनसे संबंधित मुद्दों में गतिशीलता नही ला सकी। जनसाधारण तक पहुँचाने के प्रयासों और महिला आंदोलन के आधार में विस्तार की कमी ने इनकी प्रभावशीलता और बदलाव के कार्यक्रम को सीमित कर दिया। किसान और मजदूर महिलाओं की स्थिति बिगड़ती चली गई और केवल थोड़ी-सी अल्पसंख्यक महिलाएँ ही इससे लाभ उठा सकीं। हाँलाकि, 73 वें और 74 वें संविधान संशोधन ने पंचायत स्तर पर स्थानीय शासन में महिलाओं को 33.33 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया। इस बिन्दु पर और अधिक चर्चा इस इकाई में बाद में करेंगे

बोध प्रश्न 3

i) महिलाओं के उत्थान के लिए संवैधानिक प्रावधान क्या है? लगभग चार पक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) 1950-60 के दशक में महिला संस्थाओं की राजनीतिक रणनीतियों की किसी भी एक कमी का वर्णन कीजिए। उत्तर दो पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

10.6 70 के दशक में महिलाओं के आंदोलन का पुनरूत्थान : मुद्दे और कार्यवाही

1970 के दशक का उत्तरार्द्व और 1980 का दशक महिला संघर्ष के पुनरूत्थान और महिलाओं के नवीन समूहों और संस्थाओं के आविर्भाव के दशक माने गये हैं। राष्ट्र के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के पश्चात् महिलाएँ सार्वजनिक जीवन से दूर हो गयी और सार्वजनिक कार्य क्षेत्र से उनके मुद्दों पर बहस लुप्त सी हो गयी। भारत में 1950 और 60 के दशक में अनेक विद्वानों ने महिला आंदोलन की अनुपस्थिति और महिलाओं के मुद्दों के लिए चिंता के धीमे क्षरण पर विचार विर्मश किया। "विरोध प्रदर्शन के विकास और कानून व शिक्षा के सीमित परिप्रेक्ष्य को तोड़ना-इनको 1970 के दशक के महिला आंदोलन ने महिलओं की स्थिति को सुधारने के साधन रूप में दर्शाया था। यहाँ तक कि स्वतंत्रता-पूर्व या 1950 के दशक के दौरान जो पुरानी महिला संस्थाएँ मुख्यत : 'कल्याण' और 'परोपकार' के कार्य में लगी थी धीरे-धीरे उन्होंने महिलाओं से संबंधित कुछ मुद्दों पर अपने विचारों को परिवर्तित करना शुरू कर दिया था। ऐसे बहुत से मुद्दे थे जिन्होनें भारत में महिला आंदोलन को उत्तेजित कर दिया था। चित्र 10.1 में उनमें कुछ को दर्शाया गया है।

चित्र 10.1: महिला आंदोलन

फिर भी बहुत सी महिला कार्यकर्ता जो राजनीतिक दलों, ट्रेड़ यूनियनों, किसान और मजदूरों के आंदोलनों के साथ काम कर रही थी उन्होने केवल महिला संबंधित विषयों को उठाने में हिचकिचाहट महसूस की। महिलाओं ने जिन समस्याओं (मुद्दों) को उठाया उनमें से प्रमुख थी- कपड़ा मिलों से महिलाओं को निकाला जाना और अन्य उद्योगों में से

प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के कारण महिलाओं का हटाया जाना, महिला मजदूरों के लिए मातृत्व सुविधाओं की कमी, कार्य स्थल पर शिशु देखभाल प्रबंध की कमी, समान काम के लिए पुरुषों और महिलाओं के बीच वेतन में भेदभाव, महिला मजदूरों के लिए अपर्याप्त शिक्षा और प्रशिक्षण सुविधाएँ तथा कार्य-स्थलों पर भेदभाव। इन्होने देश के विभिन्न भागों में अलग से महिला संस्थाओं के आविर्भाव को प्रेरित किया, जिन्होंने परिवर्तन के लिए निर्धन महिलाओं को संगठित करने के लिए गंभीर प्रयास किए।

10.6.1 नए संगठनों और दृष्टिकोणों का उदय

निर्धन ग्रामीण और शहरी महिलाओं की बढ़ती आर्थिक कठिनाईयों (छठी पंचवर्षीय योजना के अंत तक 50 प्रतिशत परिवार गरीबी रेखा के नीचे थे) और सामान्य कृषकों और औद्योगिक मजदूरों के आंदोलनों द्वारा महिलाओं के मुद्दों को उठाने में असफलता के परिणाम स्वरूप महिला मजदूर अलग से संगठित होने लगी। आइए अब नए संगठनों और दृष्टिकोणों पर गहराई से विचार करे।

i) **संगठन**

कुछ नवीन संगठन (संस्थाएँ) जो संगठित क्षेत्रों में महिला मजदूरों की दुर्दशा से संबंधित थे जैसे महिलाओं की स्वरोजगार संस्था (गुजरात), कार्यकारी महिलाओं का संघ (फोरम) (तमिलनाडु), श्रमिक महिला संगठन (महाराष्ट्र)। महिला मजदूरों को संगठित करना और उनकी मजदूरी काम की परिस्थितियों, शोषण और स्वास्थ्य के खतरे के मुद्दों को उठाना इन महिला संगठनों के लिए महत्वपूर्ण कार्य बन गए थे। असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत महिलाओं पर शोध ने निर्धन ग्रामीण और शहरी मजदूरों की समस्याओं को सुलझाने के लिए नई योजनाओं के विकास में सहायता प्रदान की।

1973-74 में मूल्य-वृद्धि विरोधी आंदोलन विभिन्न दलों से संबंधित महिला संगठनों का एक संगठित मोर्चा था।

ii) **दृष्टिकोण**

1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में अनेक महिला संगठनों का जन्म हुआ जो कि किसी राजनीतिक दल या ट्रेड यूनियन से संबंधित नही थे। ये स्वैच्छिक महिला संगठन कहलाये। इन्होंने पहले के महिला संगठनों, जिनमें से बहुत से संगठन स्वतंत्रता से पूर्व स्थापित हुए थे, द्वारा अपनाए गए 'कल्याणवादी' दृष्टिकोण को अस्वीकार किया और विशिष्ट मुद्दों पर महिला-गतिशीलता के लिए 'विरोध प्रदर्शन' की नीति को अपनाया।

10.6.2 वन कटाई और पारिस्थितिकीय आंदोलन

वनो की कटाई के कारण हिमालय क्षेत्र में महिलाओं को आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा जिसके परिणाम-स्वरूप महिलाओं में स्वैच्छिक रूप से आंदोलनकारी गतिशीलता आई। ये पेड़ों के साथ लिपट जाती थी ताकि ठेकेदारों को उन्हे काटने से रोका जाए। यह "चिपको आंदोलन" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वनों के लुप्त होने का तात्पर्य है महिलाओं की कठिनाईयों का और अधिक बढना, विशेषकर उनके लिए जो मुख्य रूप से ईंधन, चारा, फल, दवाइयों के लिए जड़ी-बूटियाँ एकत्रित करती थी और अन्य जंगली उत्पाद जो उन्हें आय और रोजगार देते थे उन्हें भी एकत्रित करती थी। इसी कारण से हम पाते है कि महिलाएँ इन पारिस्थितिकीय आंदोलन में अब भी सबसे आगे है।

10.6.3 70 और 80 के दशक में मुद्दों पर आधारित आंदोलन

1970 के दशक में किए गए विभिन्न अध्ययनों से सुधार पर सामाजिक कानून की प्रभावहीनता स्पष्ट होती है। स्वैच्छिक महिला संगठनों ने महिला दमन में संबंधित समस्याओं को उठाया जैसे दहेज, परिवार के अतंर्गत हिस्सा, पुरुषों द्वारा मद्यपान (मद्यपान) और पत्नी को पीटना, कार्यस्थल पर भेदभाव इत्यादि, ताकि महिलाओं को सामूहिक प्रयास के लिए गतिशील बनाया जाए। मुम्बई, दिल्ली, हैदराबाद, पटना इत्यादि में पहली बार कुछ समूहों ने ऐसी समस्याओं को उठाया जैसे उच्च जाति के जमींदारों द्वारा गरीब अनुसूचित जाति और जनजाति की महिलाओं के शारीरिक शोषण की समस्या, दहेज हत्याओं, बलात्कार, महिलाओं के विरूद्ध अपराध और हिंसा आदि अखिल भारत दहेज-विरोधी और बलात्कार-विरोधी आंदोलनों का प्रारम्भ महिला संगठनों द्वारा किया गया और नागरिक स्वतंत्रता संगठन व प्रजातांत्रिक अधिकार संगठन भी इनमें सम्मिलित हुए। उन्होंने महत्वपूर्ण मुद्दों पर आधारित आंदोलनों की शुरूआत की। आइए इन आंदोलनों में से कुछ की विस्तार में चर्चा करें ।

i) **दहेज-विरोधी आंदोलन**

अनेक महिला संगठनों और नागरिक अधिकार समूहों द्वारा दहेज न देने के कारण हुई हत्याओं के खिलाफ एक निरंतर अभियान चलाया गया। पत्रकारों ने दहेज समस्या के बारे में बहुत विस्तार से लिखा। 1980 के दशक में अनेक महिलाओं तथा अन्य प्रगतिशील संगठनों ने मिलकर दिल्ली में "दहेज विरोधी चेतना मार्च" दल का गठन किया। अन्य बड़े शहरों में भी संगठनों ने विरोध, प्रदर्शन, वाद-विवाद, नुक्कड़ नाटक, पोस्टर इत्यादि के माध्यम से दहेज के लिए युवा दुल्हनों की क्रूर हत्याओं के विरोध में अभियान चलाए। विधि आयोग और संसदीय समिति ने निरंतर भी समस्या का जायजा लिया। अभियान के पश्चात् अंत में 1984 में एक विधेयक संसद लाया गया जिसने 1961 के दहेज निषेध (संशोधन) अधिनियम, 1984 पारित किया गया। अधिनियम ने दहेज में दी जाने वाली रकम की सीमा तो निर्धारित कर दी जबकि पति और पर दहेज को प्रतिबंधित नहीं किया। उसके संबंधियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार जो पीड़िता को आत्महत्या अथवा मृत्यु की ओर ले जाएँ, अपराध की श्रेणी में आ गये और इन्हें जेल सहित दण्डनीय बनाया गया, फिर भी दहेज मृत्यु की दुखद घटनाएँ जारी हैं। 1986 में ही 1285 दहेज हत्याओं की रिपोर्ट की गई थी परन्तु इनमें से बहुत कम दोषी ठहराए गए। जबकि 1998 में, पूरे भारत में 6917 दहेज हत्याओं की रिपोर्ट की गई (राष्ट्रीय मानव विकास रिपोर्ट 2002)।

ii) **सती-विरोधी आंदोलन**

1829 में सती प्रथा को कानून के माध्यम से समाप्त कर दिया गया था जो कि ब्रिटिश द्वारा शुरू की गई बहस की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच थी।

देवराला, राजस्थान में 1988 में किशोर विधवा रूप कंवर का अपने पति की चिता में जलने ने महिला संगठनों के विरोध को और अधिक भड़का दिया था। सरकार की विलम्बित प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आंदोलन को आधार मिला और इसने सती (रोकथाम) अधिनियम का रूप ले लिया, जिसको जल्दबाजी में संसद में पारित किया गया था। अधिनियम यह मानता है कि यह प्रथा रीति-रिवाजों के द्वारा स्वीकृत है। अतः जो 'सती' के नाम पर चंदा इकट्ठा करते है और फोटोग्राफ बेच कर लाभ कमाते

है उनको सजा नहीं दी जा सकती। रोकथाम के उपायों के नाम पर कुछ भी नहीं है। सती विरोध की भावना किसी भी समुदाय में ऐसा आंदोलन खड़ा कर सकती है जो उसके धार्मिक रीति-रिवाजों पर एक प्रहार भी माना जा सकता है। यह आश्चर्यजनक है कि इस क्रूर प्रचलन, जिसके विरोध में सामाजिक सुधारकों ने आवाज उठाई थी, हमारे देश में जहाँ मातृदेवी की पूजा होती है, आज भी प्रचलित है।

iii) **बलात्कार-विरोधी आंदोलन**

बलात्कार के एक केस में जिसमें अपराधी को निर्दोष करार कर दिया गया था, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय पर पुनर्विचार करने की माँग को लेकर पिछले दशक में बलात्कार विरोधी आंदोलन चलाया गया था। महिला कार्यकर्ताओं ने बलात्कार कानून पर पुनर्विचार करने के लिए सरकार पर दबाव डाला। अनेकों महिला संगठनों तथा कानूनी और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की विधि आयोग के साथ कानून में संशोधन के लिए बहसें हुई और 1983 में दण्ड विधान (संशोधन) अधिनियम पारित किया गया।

1990 के दशक में महिलाओं ने साम्प्रदायिकता तथा वैश्वीकरण के मुद्दों को व्यापक तंत्र के द्वारा राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर उठाया। 21 वीं सदी के आरम्भ में भारत में महिला संगठन विभिन्न मुद्दों और अभियानों पर तंत्रों (नेटवर्क) के द्वारा एक दूसरे से जुड़ गए थे। पहले से प्रचलित विरोध और वकालत की पद्वतियों के साथ-साथ, प्रतिरोध और गतिशीलता की नयी पद्वतियों का परिवर्तन के लिए विकास हो रहा है।

10.6.4 उभरती प्रवृत्तियाँ और सरकार की प्रतिक्रिया

किसी को ऐसा प्रतीत नही होना चाहिए कि भारत में महिला आंदोलन मुख्यत : शहर पर आधारित है। हम देखते हैं कि इसमें मध्यम वर्ग की शिक्षित महिलाएँ भी सम्मिलित है। यहाँ पर बहुत सी गरीब ग्रामीण और शहरी कामकाजी वर्ग की महिलाओं, जनजातीय, स्वरोजगार प्राप्त महिलाओं के बहुत से सक्रिय जमीनी स्तर पर काम करने वाले संगठन है, जो दमन, अन्याय और शोषण के सभी स्वरूपों के खिलाफ लड़ रहे है। विभिन्न राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों और ट्रेड व्यापार संघों ने महिला-शाखा स्थापित किए हैं।

1970 के दशक के दूसरे हिस्से में शुरू हुए महिला आंदोलन की प्रतिक्रिया के रूप में सरकार ने कुछ मंत्रालयों (ग्राम विकास, श्रम और मानव संसाधन विकास) के अतंर्गत महिला प्रकोष्ठ स्थापित किए। सरकारी कार्यक्रमों में 30 प्रतिशत लाभाग्राही निर्धन ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षण और आय उपार्जन कार्यक्रमों के लिए चयनित किया गया। 1980 के दशक के उत्तरार्द्व में सरकार द्वारा महिलाओं के लिए एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य (perspections) योजना (1988-2000) तैयार की गई थी जिसमें महिलाओं की कानूनी, आर्थिक, सामाजिक और प्रस्थिति से संबंधित अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गई थी। सरकार ने स्वरोजगार और अनौपचारिक क्षेत्र की असंगठित महिला मजदूरों, जो महिला मजदूरों का 87 प्रतिशत भाग है परन्तु उन्हें समान वेतन, मातृत्व लाभों, शिशु देखभाल सुविधाओं और बेहतर काम की स्थिति पाने में श्रम कानूनों के तहत् किसी भी प्रकार का संरक्षण प्राप्त नही हैं, की विशिष्ट समस्याओं के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की भी नियुक्ति की। 1980 के दशक के उत्तरार्द्व में तैयार किए गए तथा 1993 में पारित संविधान के 73 वें तथा 74 वें संशोधनों के तहत महिलाओं के लिए प्रत्येक पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद तथा स्थानीय संस्थाओं में 33.33 प्रतिशत आरक्षण सुनिश्चित किया गया। 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण तथा उनके सशक्तीकरण को बढ़ावा देने के लिए किया

गया। इस आयोग की परिकल्पना एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में की गई थी, जो सरकार को महिलाओं के मुद्दों पर सलाह दे सके, तथा उनके अधिकारों की शक्तिशाली संरक्षक बन सके। इसीलिए आयोग को "वैद्यानिक" संस्था का दर्जा दिया गया, ताकि वह स्वतंत्रता से काम कर सके (महिला तथा बाल विकास विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, मानव संसाधन मंत्रालय, 2002)। इसके अलावा, सरकार ने अन्य दूसरी योजनाएँ भी शुरू की है कि राष्ट्रीय महिला कोष (RMK) इंदिरा महिला योजना (IMY), बालिका समृद्वि योजना (BSY), स्वशक्ति प्रॉजेक्ट इत्यादि जिससे महिलाओं को लाभ मिल सके।

महिला आंदोलन के अन्दर कार्यवाही के लिए मुद्दों और कार्य सूची तथा सरकार की प्रतिक्रिया में परिवर्तन महिलाओं की समस्याओं पर शोध, खास तौर पर कामकाजी वर्ग और अन्य कमजोर वर्ग (भागों) में महिलओं पर विशेषकर 1970 और 1980 के दशक के दौरान, के कारण हुए और उन्होंने महिला आंदोलन के साथ-साथ सरकार के लिए भी बहुत सी चुनौतियाँ पैदा कर दी।

महिलाओं के अधीनस्थ और उत्पीड़न तथा उनकी ताकत के बिन्दुओं को समझने के लिए विद्वानों ने नवीन जानकारी सृजित की, जिसको व्यापक रूप में 'महिलाओं पर अध्ययन' या लैंगिक अध्ययन' कहते है। धीरे-धीरे यह अपना स्थान विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और विद्यालयों में शिक्षण सामग्री के रूप में ले रहा है। महिला संगठनों द्वारा 'महिलाओं पर अध्ययन और परिवर्तन के लिए कार्यवाही के बीच एक मजबूत संबंघ दर्शाया जाता है। 1970 और 1980 के दशक के दौरान महिला आंदोलन महिलाओं के मुद्दों को सार्वजनिक बहस के अखाड़े में वापस लाने में प्रभावी रहे, जो समानता, न्याय और सभी महिलाओं के गौरव के लिए आने वाले लम्बे संघर्ष की केवल एक शुरूआत थी।

10.7 समकालीन काल में महिला आंदोलन

समकालीन महिला आंदोलन कानूनी संस्थाओं तथा राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के बाद की प्रक्रिया को अपनाकर लैंगिक असमानता और महिलाओं के खिलाफ हिंसा को खत्म करने को लक्षित करके होते रहे हैं। यह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन और आधार पर मुद्दों पर आधारित सामाजिक आंदोलन की माँग करता है जो अक्सर शारीरिक हिंसा मानसिक प्रताड़ना शारीरिक शोषण, बलात्कार आदि के कारण होते हैं।

ज्यादातर महिला संगठनों का जन्म पिछले कुछ सालों में ही हुआ है और उन्होंने अपनी आवाज सामाजिक असमानता और लैंगिक भेदभाव के विरूद्ध उठाई है। एन जी ओ (NGO) और नागरिक समाज संगठनों ने समाज के रूपांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रदर्शित करते है जो महिलाओं की व्यक्तिपरकता (आत्म चेतना) और अधीनस्थता के मुद्दे को पुरुषों के वर्चस्व के अन्तर्गत पूछता है।

1960 के दशक के बाद से अमेरिकी नारीवादियों ने एक प्रसिद्ध कथन लिया - "जो व्यक्तिगत है वह राजनीतिक है" और अपनी सक्रियता को पुरुष और महिला के बीच के व्यक्तिगत संबंधों के विरूद्ध शुरू कर दिया। दोनो उदार और उग्र नारीवादियों ने पितृ पक्ष (पुरुष वर्चस्व) को चुनौती देने के लिए एक सक्रियता मंच का रुप लिया। बाद में तट सक्रियता बहुत से विकासशील देशों में फैल गयी। भारत में, इस तरह के आंदोलन ने एक व्यापक तरीके में स्थान लिया जो जाति, वर्ग, लिंग, नृजातियता और धार्मिक मुद्दों के व्यापक प्रश्नों को संबोधित करते है। दलित महिला आंदोलन जाति के प्रश्न को संबोधित करता है जबकि श्रमजीवी किसान आंदोलन कृषकों के प्रश्न को संबोधित करता है।

नृजातीय जनजातीय आंदोलन नृजातीय पहचानों को संबोधित करता है जबकि मध्यम वर्ग महिला धार्मिक अत्याचारों पर प्रश्न उठाती है। उदाहरण के लिए, हिन्दू महिलाओं द्वारा मन्दिर प्रवेश आंदोलन और मुस्लिम महिलाओं द्वारा तीन तलाक के विरूद्ध आंदोलन धार्मिक अत्याचारों के विरूद्ध महत्वपूर्ण महिला आंदोलन है।

अन्य विकासशील देशों के बीच भारत में पितृसत्ता की एक अनोखी चुनौती है जहाँ पर विभिन्न सामाजिक समूहों की विभिन्न समस्याएँ है। समूह स्तर पर असमानता विद्यमान है और फिर प्रत्येक समूह में पितृसत्ता का अपने तरीके से प्रचलन है जहाँ सीमांत गरीब मार्ग सामाजिक दमन के दोहरे बोझ को झेलते हैं। पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू समाज महिलाओं को शिक्षा और संपत्ति के अधिकार नहीं देता है। ग्रामीण समाज आज भी इस समस्या को झेल रहा है जिसने असमानता और लैंगिक भेदभाव को नए अंदाज में पेश करता है।

सोचें और करें–1

भाग 7.6 को फिर से बहुत ध्यानपूर्वक पढ़िए और उन मुद्दों की सूची बनाइए जिन्होंने 1980 के दशक महिलाओं के बीच आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया था। अब इन मुद्दों की अपने समाज में प्रचलित समस्याओं से तुलना करते हुए एक निबंध लिखिए। यदि संभव हो सके तो अपने निबंध की तुलना अध्ययन केन्द्र के अपने सहपाठियों के निबंधों के साथ कीजिए।

बोध प्रश्न 4

निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तरों पर निशान लगाइए।

i) निम्नलिखित मुद्दों में से कौन सा मुद्दा स्वतंत्रता-पश्चात् काल में महिला संगठनों द्वारा नहीं उठाया गया था ?

   क) मातृत्व लाभों की कमी

   ख) पुरुषों और महिलाओं के बीच समान काम के लिए असमान मजदूरी

   ग) प्रशिक्षित महिला मजदूरों द्वारा पुरुष मजदूरों का प्रतिस्थापन

   घ) शिशु देखभाल के प्रावधानों की कमी

ii) स्वतंत्रता-पश्चात् काल में महिलाओं के मुद्दों के संदर्भ में सरकार की प्रतिक्रिया में परिवर्तन के लिए क्या जिम्मेदार था?

   क) महिला आंदोलन के अंतर्गत मुद्दों और कार्यवाही के लिए एजेंडा में विस्थापन?

   ख) महिला समस्याओं पर शोध

   ग) उपर्युक्त दोनों

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

10.8 सारांश

इस इकाई का प्रारम्भ महिला आंदोलन को सामाजिक आंदोलन का एक महत्वपूर्ण प्रकार मान कर संक्षिप्त चर्चा से किया गया है। इसके बाद हमने चर्चा की है कि किस प्रकार महिला मुद्दों पर 19 वीं और 20 वीं सदी के सुधार आंदोलनों में ध्यान केन्द्रित किया गया

था, इसमें मुख्य रूप से ब्रहम समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और मुस्लिम महिलाओं के लिए सामाजिक सुधार आंदोलन थे। इसमें राष्ट्रवादी आंदोलन में महिला मुद्दों के पहलूओं और महिला सहभागिता की विस्तृत चर्चा भी की गई है। इस इकाई में विस्तृत सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं, जिन्होंने स्वतंत्रता-पश्चात् काल में महिला आंदोलन को प्रभावित किया है, की भी चर्चा की है। अंत में, हमने 1970 और 1980 के दशक में महिला आंदोलन के पुनरूत्थान की चर्चा की है।

10.9 सन्दर्भ

Jayawardena, K. 1986. *Feminism and Nationalism in the Third World.* Kali for Women; New Delhi (Chapter 6)

Gabrielle, D. 1988. *Women's Movement in India: Conceptual and Religious Reflections.* Breakthrough: Bangalore.

Seth, Mira 2001. *Women's Development the Indian Experience.* Sage Publications: New Delhi

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) इन आंदोलनों के प्रमुख उद्देश्य थे जाति सुधार, महिलाओं की प्रस्थिति में सुधार, महिला शिक्षा को बढ़ावा और उन सामाजिक रीति-रिवाजों पर प्रहार करना जिनकी जड़े सामाजिक और कानूनी असमानताओं तथा विभिन्न समुदायों की धार्मिक परम्पराओं से जुड़ी हुई थी।

ii) इसका उद्देश्य महिलाओं के विरूद्ध प्रतिबंधो और पूर्वाग्रहों को उखाड़ फेंकना था जिसकी जड़ें धर्म में थी। इसमें बाल विवाह, बहुविवाह, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति में सीमित अधिकार अधिकार और महिलाओं की पृथक्कता सम्मिलित हैं। शिक्षा को महिलाओं स्थिति सुधारने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा गया।

iii) क) आर्य समाज

बोध प्रश्न 2

i) कुछ महिला नेताओं ने सोचा कि महिला संगठनों को दलीय राजनीति से दूर रहना चाहिए क्योंकि महिलाओं का संबंध सामाजिक मुद्दों से ही है। उन्होंने यह भी सोचा कि शिक्षा और कानून के माध्यम से महिलाओं की स्थिति में सामाजिक परिवर्तन लाने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की आवश्यकता है। दूसरी महिला नेता भी थी जिनका विश्वास था कि उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन में साथ देना चाहिए क्योंकि उनकी उन्नति केवल राजनीतिक उद्धार के साथ ही होगी।

ii) नेहरू का मानता था कि आर्थिक स्वतंत्रता या उद्धार के बिना यह संभव नहीं है कि महिला समानता को समझा जा सके। वह इस दृष्टिकोण असहमत थे कि महिला शिक्षा के सहारे ही केवल वांछित परिवर्तन लाए जा सकते है और उनकी इच्छा थी कि मानव के सभी क्रियाकलापों में महिलाओं को प्रशिक्षित किया जाए। उन्होंने कहा

कि यदि महिलाओं का संघर्ष सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्ष से अलग रह गया तो उनके आंदोलन को अधिक सुदृढ़ता नही मिलेगी और यह केवल उच्च वर्ग की महिलाओं तक ही सीमित रह जाएगी।

बोध प्रश्न 3

i) भारतीय संविधान का अनुच्छेद 15(3) राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष प्रावधान बनाने का अधिकार देता है। यह भी सुझाव देता है कि महिलाओं की प्रतिकूल स्थिति को महसूस किया जाए और राज्य को आवश्यकता है कि उन्हें पुरुषों के साथ खड़ा करने के लिए विशिष्ट उपायों को लागू करें।

ii) सामान्य महिलाओं को गतिशील करने और इन महिलाओं से संबंधित मुद्दों को समझने में उनकी असमर्थता।

बोध प्रश्न 4

i) ग

ii) ग

शब्दावली

उद्विकासीय प्रक्रिया - समाज में एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक क्रमिक परिवर्तन की प्रक्रिया

मताधिकार - मत देने का अधिकार

महानगर - दस लाख से अधिक जनसंख्या वाला शहरी क्षेत्र

बहुपत्नी विवाह - विवाह का एक प्रकार जिसमें पति एक ही समय में एक से अधिक पत्नी रखता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Jayawardena, K. 1986. Feminsm and Nationalism in the Third World. Kali for Women: New Delhi (Chapter 6)

Geabrielle, D. 1988. Women's Movement in India: Conceptual and Religious Reflections. Breadthrough: Bangalore.

Seth, Mira 2001. Women's Development the Indian Experience, Sage Publications: New Delhi

इकाई 11 श्रमिक वर्ग आंदोलन*

इकाई की रुपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 भारत में श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति

- 11.2.1 औपनिवेशिक प्रशासन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था
- 11.2.2 औद्योगिकरण
- 11.2.3 नगरीकरण

11.3 शहरी व्यवसायिक संरचना

- 11.3.1 व्यवासयिक संरचना में परिवर्तन
- 11.3.2 शहरी असंगठित क्षेत्र का उद्भव
- 11.3.3 शहरी कामगार की विशेषताएं (लक्षण)

11.4 भारत में कामगार वर्ग आंदोलन : अवधारणा, विकास और विशेषताएँ

- 11.4.1 अवधारणा
- 11.4.2 कामगार आंदोलनों का विकास
- 11.4.3 कामगार आंदोलनों की विशेषताएँ
- 11.4.4 कामगार संगठन के दोष/दुर्बलताएँ

11.5 कामगार वर्ग आंदोलन के समझ मुद्दे

11.6 सारांश

11.7 संदर्भ

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम होगे।

- भारत में शहरी कामगार वर्ग की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन करने में।
- शहरी व्यवसायिक संरचना की व्याख्या करने में।
- शहरी कामगार वर्ग की विशेषताओं की विवेचना करने में, और
- श्रमिक वर्ग आंदोलन की अवधारणा, विकास और विशेषताओं की चर्चा करने में।

11.1 प्रस्तावना

यह इकाई शहरी श्रमिक वर्ग से संबंधित है। हम भारत में शहरी श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति पर चर्चा के साथ शुरुआत करेंगे। अपने आधुनिक अर्थ में, शहरी श्रमिक वर्ग भारत में औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति ने

* यह इकाई प्रो. देबल के सिंहरॉय द्वारा लिखित है।

उत्पादन की आत्म-निर्भर ग्रामीण समुदाय व्यवस्था को नष्ट कर दिया था। इसने पारम्परिक ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को नष्ट कर दिया था। इसने पूरी तरह से ग्रामीण शिल्प के लोगों और कारीगरों के एक महत्वपूर्ण भाग को उनके रोजगाार के पारम्परिक रास्तों या तरीकों से विस्थापित होने के लिए प्रेरित किया और उन्हें शहरी क्षेत्रों में वैकल्पिक रोजगार के लिए धकेल दिया। इस इकाई में हम इन सभी पहलूओं पर चर्चा करेंगे। इकाई औपनिवेशिक और स्वतंत्रता-पश्चात् काल में औद्योगीकरण और नगरीकरण के संदर्भ में शहरी श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति पर चर्चा भी करेगी। हम शहरी व्यवसायिक संरचना और समसामयिक शहरी श्रमिक वर्ग की मुख्य विशेषताओं/लक्षणों का विवरण भी प्रस्तुत करेंगे। श्रमिक आंदोलन शहरी श्रमिक वर्ग के सामाजिक-राजनीति जीवन का एक अविभाज्य अंग रहा है। इस इकाई में, हम भारत में श्रमिक आंदोलन की अवधारणा, विकास और विशेषताओं की भी चर्चा करेंगे।

11.2 भारत में श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति

शहर में आर्थिक क्रियाएँ गैर-कृषि व्यवसायों के आस-पास केन्द्रित होती है जैसे व्यापार, विनिर्माण, उद्योग और प्रबंधन। भारत में, नगरीकरण की प्रक्रिया में शहर विविध आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र रहे है। उन्होंने लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों से आकर्षित किया है। यह आकर्षण जिसने गाँव की जनसंख्या के एक महत्वपूर्ण भाग को शहरी क्षेत्रों में खींचा है खिचाव कारक कहलाता है। जबकि, ग्रामीण गरीबी, कृषि अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन और कुटीर उद्योगों के विनाश ने भी ग्रामीणों को शहरी क्षेत्रों में धकेला है (आने को बाध्य किया हैं) यह दबाव कारक के रुप में जाना जाता है।

इस प्रकार, प्रवास के खिचांव और दबाव कारक, जो नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है, भारत में शहरी श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। जबकि, हमारे देश में खिचांव और दबाव कारक एकाकीपन (अलगाव) में काम नहीं करते है। बल्कि ये औपनिवेशिक काल से ही राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था द्वारा प्रचण्ड रुप से प्रभावित हुए है।

11.2.1 औपनिवेशिक प्रशासन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

शहरी श्रमिक वर्ग यूरोप में अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। भारत इग्लैंण्ड के उन उपनिवेश में से एक था जो उस समय पर पांरपरिक आर्थिक लाभ के मजबूर विघटन से पीडित था। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति पूँजीवाद के अभूतपूर्व विकास, मानव द्वारा निर्मित दस्तकारी से बड़े पैमाने के उद्योगों में मशीनों के प्रयोग के संक्रमण, अविष्कारों और आधुनिक मशीनों, आधुनिक श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति से चित्रित थी। इस संदर्भ में, यह आवश्यक है कि भारत में औपनिवेशिक शासन के प्रभाव की जाँच जायें।

साम्राज्यवादी शासकों ने अपने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए भारत के प्राकृतिक संसाधनों को लूटा था। उनके लम्बे समय तक औपनिवेशिक प्रशासन और तीव्र शोषण ने भारतीय लोगों के एक बड़े हिस्से को दयनीय, वंचित वर्ग जन से लाकर खड़ा कर दिया था। उनके शासन का परिणाम निकलाः

i) आत्म-निर्भर ग्रामीण समुदाय का विनाश : ब्रिटिश प्रशासन ने अपनी नई भूमि व्यवस्था के द्वारा, साहूकारों (उधारदाताओं), व्यापारियों से उत्पन्न जमींदारों के नए तबके को

ग्रामीण गरीबों (खास तौर पर, गरीब कृषकों, बंटाईदारों और कृषि मजदूरों) को शोषित करने का अक्षुण/अटूट अवसर प्रदान किया।

ii) परम्परागत ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का विनाश : उनकी नीति ने भारत में परम्परागत ग्रामीण और कुटीर उद्योगों के खात्मा करने का मार्ग बनाया। 1813 में, अंग्रजों ने भारत में मुक्त व्यापार नीति को लागू किया। भारतीय बाजार को ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए खोल दिया गया जिसके परिणामस्वरुप भारत के लिए ब्रिटिश निर्यात की तीव्र वृद्धि हुई। जबकि, इग्लैंण्ड में आयात किए हुए भारतीय कपड़ों और रेशमी वस्तुओं (उत्पादों) की कीमत पर 70% से 80% के बीच उन्होंने आयात कर लगाया। औपनिवेशिक व्यापार नीति में इस भेदभाव ने मुख्यतः भारत में कपड़ा उद्योग को बर्बाद कर दिया और उसकी अर्थव्यवस्था को बुरी तरह से प्रभावित किया। अंग्रजों ने अपने आयात और निर्यात कार्यों के लिए आधुनिक सड़क एवं रेलमार्ग आदि यातायात को प्रारम्भ किया। इसने अंग्रजों को भारत से इग्लैण्ड कच्चा माल निर्यात करने और भारतीय बाजार को अपने औद्योगिक उत्पादों से भरने की प्रक्रिया को आसान बनाने में मद्द की। साम्राज्यवादियों द्वारा बनायी गई इस विवेकहीन व्यापारिक नीति ने भारत को पूंजीवादी ब्रिटेन के कृषि कच्चा माल के अनुबद्ध में परिवर्तित कर दिया।

iii) ग्रामीण कारीगरों और शिल्पकारों का विस्थापन और प्रवास : जब से इस काल में भारत में पारम्परिक कुटीर और ग्रामीण उद्योगों का विनाश हुआ था विस्थापित कारीगरों और शिल्पकारों का एक महत्वपूर्ण भाग कृषि मजदूरों के समूह में शामिल हो गया था जबकि इन गरीब मजदूरों (कामगारों) का एक छोटा भाग रोजगार के लिए शहरी क्षेत्रों में प्रवास कर गया था। अत्यधिक आर्थिक असुरक्षा और समाज की निम्न श्रेणी की कंगाली की प्रक्रिया में भारत सस्ते श्रम का भंडार बन कर उभरा। अंग्रजों ने इस स्थिति का पूर्ण फायदा उठाया।

उन्होंने भारतीय मजदूरों की विभिन्न ब्रिटिश औपनिवेशों में बागान-उद्योगों के लिए वृहत-स्तर पर अप्रवास की व्यवस्था की। भारतीय मजदूरों को ब्रिटिश गुआना वेस्टइंडीज, मारिशस आदि स्थानों जैसे औपनिवेशिक बागान में पेश करने की माँग की गई। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नही है कि अप्रवासी भारतीय मजदूरों का अनैतिक/निर्लज्ज शोषण किया जाता था।

श्रमिक वर्ग के लोगों का अन्तर-क्षेत्रीय प्रवास भी विद्यमान था। गरीब या दरिद्र लोग नौकरी की तलाश में दूरवर्ती स्थानों पर भी जा कर बस गए थे जहाँ पर कुछ कारखानों/उद्योगों को स्थापित किया गया था या खनन या बागानों को विकसित किया गया था। तब से, ये मजदूर उन क्षेत्रों में बस गए जो उनके घरों से बहुत दूर थे और मालिकों द्वारा उनका शोषण भी किया गया। मजदूरों को मालिकों द्वारा कभी भी सीधे भर्ती नहीं किया गया बल्कि मजदूरों और मालिक के बीच हमेशा एक बिचौलिया रहता था। ये बिचौलिए ही मुख्य रुप से मजदूरों को रोज़गार की शोषक शर्तों और दशाओं में रखने के लिए जिम्मेदार थे।

11.2.2 औद्योगीकरण

भारत में, औद्योगीकरण विभिन्न चरणों से गुजरा है। उद्योगों में कार्य सहभागिता भी उसी के अनुसार परिवर्तित हुई है। आइए, भारत में औद्योगीकरण की विभिन्न अवस्थाओं या चरणों की जाँच करते है।

i) प्रारम्भिक औद्योगीकरण : फैक्टरी (कारखाना) उत्पादन कलकत्ता और बाम्बें (अब कोलकाता और मुम्बई जाने जाते है) में क्रमश : पटसन (जूट) और कपड़े के उत्पादों के लिए 1850 के शुरुआती भाग में उत्पादित सामानों को ब्रिटेन के बाजारों में निर्यात करने के लिए आरम्भ हुआ। बाद में, कारखाने दूसरे पत्तन में शहरों मद्रास (अब चेन्नई जाना जाता है) स्थापित किये गए। उद्योगों को स्थापित करने का एक कारण यह था कि भारत में उत्पादन की कीमत बहुत कम थी क्योंकि यहाँ पर श्रम सस्ते दामों पर उपलब्ध था। कुछ दशकों पहले, 1839 में, असम के उत्तर-पूर्वी में चाय के बागान शुरू हुए। चाय का उत्पादन भी बाकी उत्पादों की तरह ब्रिटेन में उपयोग के लिए हुआ (भौमिक, 2010)।

भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ शुरू में 1850-1870 के काल के बीच में हुआ था जो औद्योगिक श्रमिक वर्ग के उदय के साथ मेल खाता था। 1890 तक भारत में कुछ बड़ें कारखाने स्थापित किए गए। लगभग 3 लाख लोग कपास और पटसन (जूट) मिलों तथा कारखानों खदानों में थे। जबकि लगभग 2 लाख लोग कपास, पटसन और कोयला खाद्यानों में थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में बंगाल में पटसन (जूट) कारखानों स्थापित हुए। 1913-14 के दौरान, इन कारखानों ने अकेले 2,16,000 मजदूरों को रोजगार दे रखा था। बोम्बे में कपड़ा उद्योग भी फलीभूत हुआ। 1905 में, इन फैक्ट्रियों ने 1,95,000 मजदूरों को एक साथ काम प्रदान किया। ठीक इसी प्रकार से, आवास और संचार उद्योग भी इस काल में विकसित हुए।

शुरुआती वर्षों के दौरान भारत में औद्योगिक आधार संकीर्ण रहा। 1911 की जनगणना दिखाती है कि लगभग 8,00,000 लोग द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र में लगे हुए थे। इनमें से 5,24,000 कारखानों और बागानों में कार्यरत थे। वास्तव में पटसन (जूट) उद्योग और चाय बागानों ने 4,00,000 अर्थात्, कुल श्रम बल के आध्श्रमिकों को रोजगार प्रदान कर रखा था, 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत के साथ परिस्थिति में कुछ सुधार आया। युद्ध ने औद्योगिक वस्तुओं की आवश्यकता को उत्पन्न कर दिया था और औपनिवेशिक सरकार ने भारत में अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) माल (सामग्री) क्षेत्र का विस्तार करके इसे पूरा करने की मांग की। इस काल के दौरान पहला इस्पात कारखाना उत्तर भारत में बिहार में स्थापित किया गया। इस क्षेत्र में बहुतायत में खनिज संपदा है। रेलमार्ग ने अपना क्षेत्र विस्तार बढ़ाया जो 1860 के दशक में मुख्यतः मुम्बई में सूती कपड़ा मिलों और कलकत्ता में जूट मिलों में कच्चा माल ले जाने के लिए प्रारम्भ किया गया था (गॉडगिल, 1982 भौमिक, 2010)।

हालाँकि, इन उद्योगों में श्रमिकों कार्य करने की दशाएं भयावह थे। आयु और लिंग पर विचार किए बिना, उनको सोलह घटों से अधिक समय के लिए कार्य करना पड़ता था। वहाँ पर किसी भी दुर्घटना के खिलाफ एहतियाती उपाय नहीं थे। आमतौर पर, वेतन निर्वाह स्तर से नीचे था। बहुत बार श्रमिक बिना किसी आराम के हफ्तों तक कार्य करते थे। किसी के लिए भी असहनीय इस श्रम के दबाव के कारण जब श्रमिक शारीरिक रुप से टूट जाता था, एक दल को दूसरे नए भर्ती किए गये दल से बदल दिया जाता था जैसे एक पहिए के टूटे हुए कंगूरे (दांते) को नए से बदल दिया जाता है।

श्रमिक (मजदूर) असंगठित थे और उद्योगपति उनसे अधिक घटों और काम मजदूरी पर काम कराने में समर्थ थे। महिलाएँ और बच्चे इस व्यवस्था में सबसे अधिक प्रभावित थे क्योंकि उनका वेतन (मजदूरी) भी कम था।

बम्बई में कपड़ा मिलों पर किसी भी नियम के अभाव ने मिल मालिकों को उनका माल सस्ते दामों में बेचने में मज़बूर किया। बम्बई में श्रमिक (मजदूर), आदमी, औरत और बच्चें, कारखानों में एक दिन में 16 या उससे भी ज्यादा घंटे काम करते थे। मिल महदूरों विशेषकर बाल श्रमिकों की दयनीय दशा ने सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच चिंता पैदा की। उनमें से एक शपूरजी एस. बंगाली थे जो पारसी समाज-सेवी और सामाजिक सुधारक थे। उन्होंने कारखानों में श्रमिक बच्चों की रक्षा के लिए कुछ कानूनों को लागू करने के लिए सरकार को मनाने की कोशिश की। उन्होंने इस विषय पर एक विधेयक (बिल) मसौदा भी तैयार किया था और विधेयक पास कराने के लिए ब्रिटिश सरकार को समझाने में मदद के लिए वह इंग्लैंण्ड में अपने मित्रों से मदद चाहते थे (भौमिक, 2010)।

दोनों ओर से दबाव ने 1881 में प्रथम कारखाना अधिनियम (Factories act) को पारित कराने में सरकार को बाध्य किया। यह पहला कानून था जिसने कारखानों (Factories) में कार्य-दशाओं को व्यवस्थित किया था। हांलाकि कार्य-दशाओं पर मुश्किल से ही इसका कोई प्रभाव था। दस साल बाद, 1891 में, द्वितीय कारखाना अधिनियम (Factories Act) पारित हुआ जिसने बच्चों की कार्य अवधि को सात घंटे और महिलाओं की कार्य अवधि को ग्यारह घंटे प्रतिदिन कर दिया। श्रमिकों को भोजन ग्रहण करने के लिए आधे घंटे के अवकाश की अनुमति दी गई थी। उसी समय, पुरुषों की कार्य अवधि को व्यवस्थित करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया और ना ही मजदूरी के लिए कोई कानून बनाया गया। 1911 में तृतीय कारखानों अधिनियम के पारित होने के बाद ही पुरुष श्रमिकों की कार्य अवधि (काम के घंटे) व्यवस्थित की गई जिसने निर्धारित किया कि पुरुष एक दिन में 12 घंटो से अधिक काम नही कर सकते है (भौमिक, 2010)।

ii) दोनों विश्व युद्धों के मध्य औद्योगिकरण : यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी जरूरी है कि दोनों विश्वयुद्धों के मध्य भारत में फैक्ट्री उत्पादों की मांग में अभूतपूर्व बढ़त हुई थी जिसका कारण इंग्लैण्ड से आयात में कमी होना था। भारतीय मिलों और कारखानों ने लोहे और स्टील, जूट, कपड़ा, चमड़ा और दूसरे उत्पादों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अपना उत्पादन बढ़ा लिया था। हालाँकि, भारी उद्योगों की कमी के कारण उनका उत्पादन अधिक तीव्र नहीं था। वास्तव में ब्रिटिश प्रशासन ने पूँजीगत वस्तु उद्योगों के विकास को बढ़ावा देने के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किये थे, बल्कि इसने भारतीय भूमि में इनकी वृद्धि में बाधा ही उत्पन्न की।

iii) स्वतन्त्रता-पश्चात् काल में औद्योगिकरण : यह स्वतन्त्रता के बाद का समय ही था कि भारत की सरकार ने औद्योगिकरण के लिए सचेत और विचारपूर्वक प्रयास किये। दूसरी पंचवर्षीय योजना से ही औद्योगीकरण की प्रक्रिया भारत में बेरोजगारी की समस्या का समाधान देने में समर्थ नहीं रही है। 1960 और 1965 के बीच उद्योग में रोजगार की वृद्धि दर 6.6 % थी परन्तु 1965-70 के दौरान यह 1.3 % तक गिर गयी थी। यहाँ तक कि 1970 में कारखाना रोजगार ने श्रम बल के केवल 2 % को ही समाहित कर रखा था।

11.2.3 नगरीकरण

शहरी श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति नगरीकरण की प्रक्रिया से निकटता से संबंधित है। हालाँकि पारंपरिक शहरीकरण लंबे समय से जारी था पर यूरोपीय औपनिवेशिक व्यापारियों के आने

के साथ ही भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया ने नए चरण में प्रवेश किया था। धीरे-धीरे शहर तटीय क्षेत्रों में विकसित हुए और ब्रिटिश शक्ति के बढ़ने के साथ ही शहरी केन्द्र देश के विभिन्न भागों में उभरने लगे। इस काल में, नई सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, यातायात और संचार के नए साधन उभरे। इन सभी ने आर्थिक अवसरों के क्षेत्र और लोगों की गतिशीलता को विस्तृत किया था। चूंकि ग्रामीण क्षेत्र ग्रामीण और कुटीर उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया से गुजर रहे थे, तो नए आर्थिक मार्गो ने ग्रामीण लोगों के एक महत्वपूर्ण भाग को शहरी क्षेत्रों की ओर खींच लिया था। इस काल में, भारत ने ग्रामीण श्रम बल का नए स्थापित औद्योगिक क्षेत्रों की ओर बड़े- पैमाने पर प्रवास देखा (हम इस पर पहले के भाग में चर्चा कर चूकें है)। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने नए शहरी केन्द्रों की उत्पत्ति और साथ ही साथ पारम्परिक केन्द्रों को भी विस्तृत किया उसने शहरी केंन्द्रों से था। इन शहरी केन्द्रों में विभिन्न सामाजिक समूह उत्पन्न हो गये थे जैसे- प्रशासनिक और व्यावसायिक अभिजात वर्ग, पेशेवर समूह, शिक्षित सफेदपोश कार्यकर्ता और श्रमिक वर्ग। श्रमिक वर्गो में मुख्यताः कारखाना मजदूर और विभिन्न सेवा व्यवसायों से संबंधित अकुशल व हाथ से कार्य करने वाले मजदूर शामिल थे। श्रमिक वर्ग का बड़ा भाग जाति पदक्रम की निम्न श्रेणी से संबंधित था।

आजादी के बाद से नगरीकरण की प्रक्रिया ने नए आयाम प्राप्त किए है। भारत में 1950 के दशक की शुरुआत से ही योजनाबद्ध आर्थिक विकास और प्रौद्योगिकीय आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शहरी औद्योगीकरण का स्तर बढ़ा। यह शहरी व्यवसायिक संरचना में अभूतपूर्व परिवर्तन लाया है। इस पहलू पर हम अगले भाग में विचार विमर्श करेंगे।

बोध प्रश्न 1

i) भारतीय पारम्परिक कपड़ा उद्योग पर ब्रिटिश व्यापार नीति के प्रभाव की व्याख्या कीजिए। उत्तर लगभग छः पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) व्याख्या कीजिए कैसे कुटीर और हस्तशिल्प उद्योग के विनाश की प्रक्रिया ने औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक श्रमिक वर्ग की वृद्धि में सहयोग दिया है? उत्तर लगभग सात पक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.3 शहरी व्यवसायिक संरचना

इस भाग में, हम शहरी व्यवसायिक संरचना की चर्चा कर रहे है। पहले, हम तुमको शहरी क्षेत्रों में व्यवसायिक संरचना में हाने वाले इन परिवर्तन और असंगठित क्षेत्र की उत्पत्ति से आपको अवगत करायेंगे जो शहरी व्यवसायिक संरचना पर प्रभाव डालते है। अंत में, हम शहरी श्रमिक वर्ग की विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे।

11.3.1 व्यवसायिक संरचना में परिवर्तन

औद्योगिकरण और नगरीकरण की तीव्र दर के बावजूद, भारत में व्यवसायिक संरचना में बहुत ज्यादा परिवर्तन नही हुआ है। 1901 से 1971 के काल के दौरान, कृषि (प्राथमिक क्षेत्र) में लगभग 72 % श्रम बल था। दिलचस्प बात यह है कि नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत दोगुने से भी अधिक बढ़ा जो 1901 में 10.8% से बढ़ कर 1981 में 23.3% हो गया।

प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों में रोजगार 1901-2011

वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक
1901	71.8	12.6	15.6
1951	72.2	10.6	17.3
1961	72.3	11.7	16.0
1971	72.1	11.2	16.7
1981	70.59	12.92	16.49
1993-94	64	16	20
1999-2000	60.4	15.8	23.8
2011-2012	48.9	24.3	26.8

1951 से मजदूरों का द्वितीयक क्षेत्र की ओर मामूली विस्थापन हो गया था जो 1951 में 10.6% से 1971 में 11.2% हो गया था और तृतीयक क्षेत्र में कार्य सहभागिता में 1951 में 17.3% से 1971 में 16.7% तक की गिरावट आई थी। उद्योगों में भारी निवेश ने इस विस्थापन में योगदान दिया था। 1981 की जनगणना दूसरे क्षेत्रों में मजदूरों के महत्वपूर्ण विस्थापन (बदलाव) को दर्शाती है। यह दर्शाती है कि द्वितीयक क्षेत्र में 1971 में लगभग 11% से वृद्धि 2011 में लगभग 24.3% हुई।

औद्योगिक क्षेत्र द्वारा श्रम शक्ति का विभाजन (बरबारा) खेती कार्य से गैर-खेती कार्य की ओर पर्याप्त बदलाव दिखाता है। 1972-73 में, लगभग 74% श्रमशक्ति प्राथमिक क्षेत्र में संलग्न थी और 2011-12 में, यह अनुपात घटकर लगभग 50% हो गया। द्वितीय और सेवा (तृतीयक) क्षेत्र भारतीय श्रम बल के लिए आशाजनक भविष्य को क्षेत्रों का हिस्सा क्रमशः 11 से 24 प्रतिशत और 15 से 27 प्रतिशत तक बढ़ गया है।

विभिन्न स्थिति (अवस्था) में श्रम शक्ति का विभाजन दर्शाता है कि रोजगार और घरेलू सकल उत्पाद (GDP) की वृद्धि, 1951-2012 (%) में अंतिम चार दशक (1972-2012), के कारण लोग स्व-रोजगार और नियमित वेतन रोजगार से अनौपचारिक मजदूरी कार्य की

ओर आये है। यद्यपि स्व-रोजगार अभी भी सबसे बड़ा रोजगार प्रदान करने वाला क्षेत्र है। विद्वान स्व-रोजगार और नियमित वेतन रोजगार से अनौपचारिक मजदूरी कार्य की ओर जाने की प्रक्रिया को श्रम शक्ति का अनौपचारिकरण (नियमित श्रमिकों की अल्पकालिक पुनर्नियुक्ति) कहते है।

हाल ही के वर्षों में, श्रमिकों का शहरी क्षेत्र की ओर क्रमिक बदलाव हुआ है। 1951 में, कुल श्रमिकों के 14% ही शहरी थे। हालांकि, 1981 में, शहरी श्रमिक भारतीय श्रम शक्ति के लगभग 20% का निर्माण करते थे। इसी समय पर खनन और उत्खनन में कार्यरत श्रमिक 13.5% से 16.5% बढ़ गए, विनिर्माण क्षेत्र में ये 44.2% से 52.2% बढ़ गए, निर्माण क्षेत्र में ये 48% से 50.5% तक बढ़ गए और सेवा क्षेत्र में 55.2% से 58.2% हो गए थे। ध्यान रखने की महत्वपूर्ण बात यह है कि शहरी श्रम शक्ति में सबसे अधिक वृद्धि विनिर्माण क्षेत्र में हुई है। अपने देश में उद्योग में वृद्धि की यह झलक दूसरी पंचवर्षीय योजना के आगमन से देखने को मिली है। संगठित क्षेत्र में रोजगार से संबंधित आँकड़े उपलब्ध है। मार्च 1988 तक, शहरी संगठित क्षेत्र में कुल मिलाकर 440.29 लाख श्रमिक कार्यरत थे जिसमें से 183. 19 लाख और 257.10 लाख क्रमशः सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में कार्यरत थे।

11.3.2 शहरी असंगठित क्षेत्र की उत्पत्ति

हाल के वर्षों में, देश के विभिन्न भागों में शहरी असंगठित क्षेत्र में तीव्र उभार आया है। भारत की शहरी अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र ने भारत में कुल शहरी श्रमिक शक्ति के महत्वपूर्ण भाग को समाहित कर रखा है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि औद्योगिक श्रम शक्ति का लगभग 45% असंगठित क्षेत्र में है। असंगठित औद्योगिक श्रमिकों के अलावा, अन्य श्रमिक भी जैसे निर्माण श्रमिक, छोटे विक्रेता, फेरी लगाकर सब्जी बेचने वाले, खाद्य पदार्थ बेचने वाले, अखबार वाला, धाबी, मेहतर (भंगी/वाल्मिकी), घरेलू नौकर आदि असंगठित क्षेत्र में आते है।

11.3.3 शहरी श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ (लक्षण)

भारत में शहरी श्रमिक वर्ग कुछ विशिष्ट लक्षण रखता है :

1) एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उनमें से ज्यादातर गाँव से (ग्रामीण क्षेत्रों से) आकर शहरों में बसे है। ये प्रवासी मजदूर अभी भी गाँव में रह रहे अपने संबंधियों से संबंध बनाये हुए है। वे पैतृक गाँव के नियमित दौरे भी करते हैं।

2) हालाँकि ज्यादातर प्रवासी मजदूरों ने अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोड़ दिया है फिर प्रवासी मजदूरों के एक महत्वपूर्ण वर्ग ने अपने पारम्परिक व्यवसाय को अभी भी बरकरार रखा हुआ है। शहरी श्रमिकों का यह वर्ग निम्न वर्ग से आता है।

3) शहरी श्रमिक वर्ग का एक काफी बड़ा भाग अशिक्षित है। उनमें से ज्यादातर कानूनी सुरक्षा से अनभिज्ञ है।

4) वे जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि के आधार पर भिन्न है। यह पाया जाता है कि छोटे शहरी केन्द्रों की तुलना में बड़े शहरों में विविधता का विस्तार अधिक है।

5) शहरी श्रमिक वर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग असंगठित क्षेत्र में काम करता है। जिन आर्थिक समस्याओं का सामना वो करते है वे हमेशा संगठित क्षेत्र के श्रमिकों के समान नही होती है। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को मजदूरी (वेतन) का भुगतान (पेमेंट ऑफ वेज एक्ट, 1936) वेतन भुगतान अधिनियम, 1936, तथा न्यूनतम वेतन अधिनियम,

1948 (मिनिमम वेज एक्ट, 1948) द्वारा संचालित/नियंत्रित होता है। एक तरह का कार्य कर रहे पुरुष और महिला श्रमिकों को समान पारिश्रमिक देने के लिए भी कानूनी प्रावधान बनाये गये है। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को मुनाफे या उत्पादकता के आधार पर अधिलाभ (बोनस) भी प्रदान किया जाता है। इन प्रावधानों को समान्यतः असंगठित क्षेत्र के नियोक्ताओं (मालिकों) द्वारा जबकि अपने श्रमिकों को परिश्रमिक प्रदान करते समय नजरअंदाज किया जाता है।

6) अपने ग्रामीण समकक्ष की तुलना में शहरी श्रमिक वर्ग संचार के आधुनिक साधनों के प्रति अधिक अवगत है। इस प्रकार वे रोजगार के वैकल्पिक रास्तों के प्रति सचेत है और तुलनात्मक रुप से सौदेबाजी की अधिक क्षमता रखते है। उसने उनकों अपने हितों के लिए लड़ने के लिए संगठन बनाने में मदद मिलती है। हाल के वर्षों में शहरी क्षेत्रों में श्रमिक संघों में भारी वृद्धि हुई है। इसका मतलब यह नहीं है कि शहरी औद्योगिक वर्ग एकजुट हो गया है, परन्तु संगठित क्षेत्र के श्रमिक देश के बहुत से भागों में एकजुट भी पाए गये है।

7) बहुत से शहरी श्रमिक असुरक्षित कार्य दशाओं के अन्तर्गत कार्य कर रहे है। और उनके पास पर्याप्त निवास की सुविधाएं भी नहीं है। उनमें से बहुत से गंदी बस्तियों में रहते है। आम तौर पर उनको गंदी बस्ती के क्षेत्रों की नियमित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं में अस्वस्थ जीवन दशाएँ, खराब रिहायशी व्यवस्था, जल निकास और बिजली का अभाव, दोषों (अवगुणों) की व्यापकता, अपराध और जुआ आदि शामिल है।

8) हालाँकि शहरी श्रमिक वर्ग के मध्य रोजगार के क्षेत्र, भाषा, क्षेत्र, जाति और नृजातीयता के संदर्भ में विविधताएँ है परन्तु उनके मध्य एकता के सामान्य तत्व भी है। उनकी एकता का एक महत्वपूर्ण सामान्य तत्व उनकी निम्न आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता को झेलना रहे है। वे अपने नियोक्ताओं (मालिकों) द्वारा विभिन्न तरीकों से शोषित हो रहे है। ये सामान्य तत्व उनको उनके नियोक्ताओं के खिलाफ एक साथ ले आये है। वे पर्याप्त कानूनी सुरक्षा के लिए भी एकजुट हो गये है।

शहरी श्रमिक वर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग औद्योगिक श्रमिक वर्ग है। औद्योगिक श्रमिकों (मजदूरों) और उनके नियोक्ताओं (मालिकों) के बीच संघर्ष हुआ है। औद्योगिक संघर्ष अधिक पारिश्रमिक, अच्छी काम की दशाओं, अधिलाभ (बोनस) आदि मुद्दों पर हुआ है। इन संघषों ने संगठित विरोध का स्वरुप ले लिया है। श्रमिकों की ओर से उनके विरोध के स्वरुप हड़ताल, घेराव, प्रदर्शन आदि है। ये संगठित विरोध शहरी श्रमिक वर्ग के श्रमिक आंदोलन और व्यापार संघवाद के (अभिन्न) भाग है। इस इकाई के निम्नलिखित भागों में, हम इन पहलूओं की विस्तार में चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तरों पर सही का निशान लगाए।

i) हाल के एक अनुमान के अनुसार लगभग

अ) शहरी श्रमिकों का 45% संगठित क्षेत्र से संबंधित है।

ब) शहरी श्रमिकों का 45% असंगठित क्षेत्र से संबंधित है।

स) शहरी श्रमिकों का 95% संगठित क्षेत्र से संबंधित है।

द) शहरी श्रमिकों का 95% असंगठित क्षेत्र से संबंधित है।

ii) भारत में ज्यादातर शहरी श्रमिक

अ) ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर चुके है।

ब) शहरी क्षेत्रों के मूल निवासी है।

स) दूसरे देशों से आए प्रवासी है।

द) जाति संस्तरण की उच्च स्तर (श्रेणी) से संबंधित है।

iii) भारत में ज्यादातर शहरी श्रमिक

अ) अच्छी काम की दशाओं के अन्तर्गत कार्य करते है।

ब) शहर में पर्याप्त आवास रखते है।

स) स्वस्थ वातावरण में रहते है।

द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

11.4 भारत में श्रमिक वर्ग आंदोलन : अवधारणा, विकास और विशेषताएँ

इस भाग में, हम केवल भारत में औद्योगिक श्रमिक (मजदूर) आंदोलन पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। औद्योगिक श्रमिक शहरी कार्य बल का एक बड़ा हिस्सा है। आधुनिक औद्योगिक समाज में दो मुख्य सामाजिक समूहों, श्रमिकों और पूंजीपतियों, के बीच सौदेबाजी की शक्ति की असमानता को पैदा करने की शक्तिशाली प्रवृत्ति है। श्रमिक आंदोलन श्रमिकों की ताकत बढ़ाने का और पूंजीपतियों की बढ़ी हुई शक्ति को मिलाने का (श्रमिकों की शक्ति के बराबर) काम करता है। आइए देखते है श्रमिक आंदोलन से हमारा क्या तात्पर्य है।

11.4.1 अवधारणा

श्रमिक आंदोलन से हमारा तात्पर्य मजदूरी करने वालों का उनकी आर्थिक स्थितियों (हितों) की उन्नति की दिशा में संगठित प्रयास से है। आंदोलन का एक संबद्ध दीर्घकालिक उद्देश्य श्रमिक वर्ग के लोगों के लिए सामाजिक और राजनीतिक लाभ सुरक्षित करना है। शहरी श्रमिक आंदोलन का मजदूर संघ आंदोलन से नजदीकी रिश्ता है। आइए मजदूर संघ के मुख्य विशेषताओं व लक्षणों का अध्ययन करते है।

एक बड़ा प्रश्न मजदूर संघ के सटीक लक्षण वर्णन से संबंधित है। इस संबंध में विशेषज्ञों के मध्य एक विवाद है। एक प्रभावशाली राय संघ (मजदूर संघ) को एक आर्थिक प्रतिनिधि (एजेंट) के रुप में वर्णित करता है "जो एकमात्र श्रम बाजार पर एक या कई चरों को अधिकतम करने की कोशिश करता है।" जे. डनलप ने संघ गतिविधियों के माध्यम से मजदूरी बिल अधिकतमकरण (अधिकतम सीमा तक ले जाना) के आधार पर एक मॉडल (प्रतिरुप) प्रस्तुत किया है। उन्होंने तर्क दिया है राजनीतिक कारकों में अल्पकालिक प्रासंगिकता हो सकती है, लेकिन दीर्ध-कालिक संघ क्रियाएँ उन आर्थिक ताकतों से प्रभावित होती है जो वेतन (मजदूरी) और रोजगार को निर्धारित करती है। परन्तु इस दृष्टिकोण का कुछ विशेषज्ञों विशेष रुप से ए.एम.रॉस, द्वारा विरोध किया गया है। उनका मुख्य तर्क यह है कि आर्थिक प्रक्रिया में सभी प्रतिभागियों के बीच "विशुद्ध रुप से आर्थिक विश्लेषण करने

के लिए व्यापार संघ शायद कम से कम उपयुक्त है। "संघ के नेता सत्ता में अपने रखरखाव के लिए सदस्यों के अलग-अलग हितों के बीच मध्यस्थता और समझौता कराने के लिए बाध्य होते है। इस आंतरिक राजनीतिक प्रक्रिया के अलावा यूनियन (संघ) के लिए अपने उद्देश्य (लक्ष्य) प्राप्त करने के लिए मुख्य धारा के राजनीतिक दलों के साथ मजबूत संबंध बनाने की आवश्यकता होती है, यह दर्शाता है कि संघ स्थित रुप से एक राजनीतिक निकाय (संस्था) है। हाल ही में खास तौर पर रेडर और लेविंसन द्वारा, विकसित दृष्टिकोण, यह है कि संघ का एक विशिष्ट राजनीतिक व्यक्तित्व है जो, हालाँकि, आर्थिक वातावरण की बाध्यताओं के भीतर काम कर सकता है।

भारत की शहरी वर्ग संरचना को एक मुख्य भाग में औद्योगिक कार्य शक्ति (बल) शामिल रहता है। उनके संगठित प्रयास आंदोलन का रुप ले लेते है, जो भारतीय श्रमिक आंदोलन कहलाते है। 1986 के लिए उपलब्ध आकड़ो के अनुसार भारत में पंजीकृत संघ कार्य कर्ता 45,095 थे। बहुत से संघ ऐसे भी थे जो पंजीकृत नहीं थे। संघ संगठनात्मक संरचना के शीर्ष पर राष्ट्रीय स्तरीय पर चौदह महासंघ है, परन्तु ये वास्तव में संयंत्र (कारखाने) के स्तर पर पर्याप्त शक्ति रहित कार्यवाहक निकाय हैं। हालाँकि, इसके बावजूद भारत में लम्बे समय से चल रहे श्रमिक आंदोलन एक विशिष्ट श्रमिक वर्ग की विचारधारा को विकसित करने में असफल रहे है। भारत के श्रमिक आंदोलन में वैचारिक अभिव्यक्ति की कमी ऐतिहासिक परिस्थितियों के एक समुच्चय (set) को प्रदर्शित करती है जिसके अन्तर्गत आन्दोलन विकसित हुआ है।

11.4.2 श्रमिक आंदोलन का विकास

आइए, भारत में श्रमिक आंदोलनों के विकास का परीक्षण करते है :

1) **औपनिवेशिक काल :** हालांकि भारत में श्रमिक आंदोलन की शुरुआत औपनिवेशिक काल में हुई थी, परन्तु इसका समग्र चरित्र ब्रिटिश श्रम आंदोलन से अलग था और अभी भी अलग ही है। विकास के प्रतिरुप (पैटर्न), पश्चिम से अलग, पुराने तरीके के कारीगरों या शिल्पकारों को इसकी प्रक्रिया में समायोजित नहीं करते हैं। जैसा कि, कुशल श्रमिक शुरुआती श्रमिक आंदोलन को सुदृड़ करने में शामिल नहीं थे। यह श्रमिक वर्ग चेतना को प्रतिबंधित करने और बाहर के नेतृत्व को लाने का प्रभाव था। इसी समय पर, चूंकि श्रमिक आंदोलन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भारत के स्वतंत्रता के लिए संग्राम के वर्चस्व के प्रभाव के तहत विकसित हुआ और चूंकि, किसी भी स्पष्ट समाजवादी विचारधारा ने संघर्ष को परिव्याप्त नहीं किया व भारत में श्रम आंदोलन की महाद्वीप के आंदोलन के विपरीत एक नई सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना से रहित था।

   शुरुआती औद्योगिक श्रमिक बल का एक महत्वपूर्ण भाग ग्रामीण गरीबों में सबसे गरीब से समाविष्ट था, जिन्हें आकाल की गंभीरता ने उनके घरों से बाहर कर दिया था। जैसे ही उन्हें गाँव में नौकरियाँ मिल गयी श्रमिक अपने गाँव के घरों को लौट गए। इस प्रकार शुरुआती वर्षों में श्रमिक औद्योगिक सर्वहारा में विकसित नही हो पाये; वे मूल रुप से प्रवासी, अस्थायी श्रमिक थे जो सांस्कृतिक रुप से ग्रामीण इलाकों से जुड़े रहे। इस स्थिति को बाद में भारत में धीमी औद्योगिक वृद्धि (विकास) ने सुदृढ़ किया गया।

हालांकि, वर्तमान सदी में, औद्योगीकरण और नगरीकरण की गति तेज हुई है, और इस प्रकार, सम्पूर्ण स्थिति परिवर्तित होने लगी। कारखाना श्रमिकों की निर्भरता खेती पर कम होने लगी। विशेष रुप से कलकत्ता और मुम्बई जैसे बड़े शहरों में कार्यरत् श्रमिक निरंतर आजीविका के साधन के रुप में कृषि और ग्रामीण उद्योगों से लगभग पूरी तरह से अलग हो गए थे। वास्तव में एक औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के उदय की शुरुआत है।

2) **द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् का काल :** द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक विश्व में भारत एक मुख्य औद्योगिक शक्ति के रुप में उभर गया था। देश के मुख्य शहरों में एक काफी बड़े औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को बनाना इसका प्रभाव था। खास तौर पर भारत की अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्र में औद्योगिकरण की प्रचंड गति और भूमिहीन मजदूरों के दर्जे (श्रेणी) में उल्लेखनीय वृद्धि ने ग्रामीण इलाकों में जाति और सांप्रदायिक हिंसा को जोड़ा (अर्थात् बढ़ाया), इसके कारण ग्रामीण इलाकों से एक व्यापक प्रवास और एक विशाल श्रम-बल शहरों में आया।

भारत में श्रमिक आंदोलन का विकास देश की औद्योगिक प्रक्रिया के साथ-साथ राजनीतिक प्रक्रिया को भी दर्शाता है। प्रारम्भ में आंदोलन मुख्यतः कपड़ा उद्योग तक सीमित था, जैसा कि यह संगठित क्षेत्र में प्रथम मुख्य उद्योग तक सीमित था, जैसा कि यह संगठित क्षेत्र में प्रथम मुख्य उद्योग स्थापित किया गया था। इस उद्योग की महत्ता न केवल श्रम गतिविधियों और अशांति के स्तर पर बल्कि नेतृत्व के स्तर पर भी प्रमुख थी और अभी भी बनी हुई है।

अब, निःसंदेह, श्रमिक आंदोलन विविध उद्योगों तक फैल गया है। यह अपनी सभी विविधताओं के साथ औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को दर्शाता है। संगठित श्रमिक आंदोलन बागान, खदान, यातायात साथ ही साथ सेवा क्षेत्र को प्रभावित करने लगे।

11.4.3 श्रमिक आंदोलनों की विशेषताएँ

भारत में श्रमिक आंदोलन की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ (अभिलक्षण) है। आइए, इनमें से कुछ पर चर्चा करते हैः

i) भारतीय श्रमिक संघ का आधार एक संकीर्ण परिचालन है, इसके दो कारण है। पहला यह है कि यह अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र तक ही सीमित है, और दूसरा यह है कि श्रमिक संघ सामान्यतः संयंत्र-आधारित (कारखाना आधारित) है और इस प्रकार साधारणतः वे छोटे आकार के है।

ii) दूसरा विशिष्ट अभिलक्षण यह है कि आंदोलन बोम्बे, मद्रास, कलकत्ता, बैंगलोर और कानपुर जैसे देश के बड़े शहरों तक सीमित है। ऐसा इसलिए है क्योंकि भारत में औद्योगिक विकास क्षेत्रीय पक्षपात को दर्शाता है।

iii) भारतीय श्रमिक आंदोलन की तीसरी विशेषता यह है कि एक स्पष्ट साम्राज्यवादी - विरोधी अवस्था के बावजूद इसमें एक विशिष्ट वर्ग अभिविन्यास का अभाव है। यह आंशिक रुप से राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव के कारण है। जिसके अन्तर्गत भारत का श्रमिक आंदोलन विकसित हुआ है। इस आंदोलन ने शक्तिशाली औपनिवेशिक शासन के खिलाफ एकजुट मोर्चा स्थापित करने के लिए उदार राजनीति पर जोर दिया। बाद में जब कट्टरपंथी वामपंथी आ गए और उन्होंने आंदोलन के एक खंड का नेतृत्व

ग्रहण किया, इसे राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा निर्धारित मापदंड़ो के भीतर काम करना था। इसके अलावा, भारत में श्रमिक पश्चिमी देशों के कारखानों के श्रमिकों की तरह विशिष्ट मजदूरी अर्जन वर्ग का गठन नहीं करते है। इसके अतिरिक्त, श्रमिक सामाजिक रुप से सजातीय श्रेणी का गठन नहीं करते है। उनके मध्य जाति, समुदाय और क्षेत्रीय अंतर वर्ग निर्माण की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करते है। इसके साथ-साथ, भारत के श्रमिक वर्ग के व्यक्तित्व साँचे में ग्रामीण मूल्यों का एक महत्वपूर्ण तत्व है। नये शहरे मूल्यों और पुराने ग्रामीण मूल्यों के मध्य आज भी तनाव बना रहता है। स्वाभाविक रुप से, इसलिए, भारत के श्रमिक आंदोलन के मामले में एक विशेष वर्ग चरित्र और वर्ग संघर्ष का एक मनोविज्ञान छिपा हुआ है।

iv) भारत के श्रमिक आंदोलन की चौथी विशेषता इसका राजनीतिक दलों के साथ संबंध है। संघ (ट्रेड यूनियन) संरचना के शीर्ष पर कई राष्ट्रीय महासंघ (फेडरेशन) है, जिसमें ज्यादातर औपचारिक रुप से एक या दूसरे दल से संबंधित है। 1947 में, इस तरह का केवल एक महासंघ था, अर्थात्, अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस जिस पर भारत में साम्यवादी दल का प्रभुत्व था। तब से सभी बड़े दलों ने अपने राष्ट्रीय खण्ड (विंग) स्थापित कर दिये। सभी प्रमुख भारतीय निकायों में से है : अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (INTUC), हिन्दू मजदूर सभा (HMS), यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (UTUC), सेन्टर ऑफ इण्डियास् ट्रेड यूनियन (CITU), और भारतीय मजदूर संघ (BMS)/ ये क्रमशः कांग्रेस-I, CPI, जनता दल, नॉन-कम्यूनिस्ट लेफ्टिस्ट (गैर साम्यवादी वामपंथी), CPI - M और BJP से संबंधित है। इसका परिणाम भारत के श्रमिक आंदोलन में संयंत्र स्तर पर बहु-संघवाद और एक विशाल विखंडन प्रक्रिया के रुप में है।

v) भारत के श्रमिक आंदोलन की पांचवी विशेषता इसके स्वायत्त विकास की अनुपस्थिति है। आंदोलन मुख्यतः बाहरी ताकतों पर निर्भर था। नेतृत्व आम तौर पर मध्यम वर्गीय पेशेवर राजनीतिज्ञों द्वारा प्रदान किया जाता है जो मुख्य धारा के राजनीतिक दलों के सदस्य है। नेतृत्व आम तौर पर संघ की आंतरिक राजनीतिक गतिशीलता से नहीं निकलता है। इसके कारण वस्तुतः नेतृत्व की श्रमिकों के सामान्य जन के लिए कोई जवाबदेही नही है और ना ही कोई रचनात्मक आंतरिक राजनीतिक प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त, संघो (यूनियनों) की राज्य पर एक निश्चित निर्भरता का भी भारत के श्रमिक आंदोलन की एकता और स्वायत्ता दोनों को वाधित करने का प्रभाव पड़ा है।

संघ-दल संयोजन, जो हालाँकि जमीनी स्तर पर नेतृत्व के विकास के लिए महत्वपूर्ण है, को पूर्ण रुप से नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि संघ एक दल से जुड़ा हुआ है जो केन्द्र और/या राज्यों में शासन करता है, वह कुछ फायदों को प्राप्त कर सकते है। जब तक कांग्रेस-I केन्द्र में सत्ता में रही, INTUC ने शासक दल के साथ संबंधों के कारण कुछ फायदों को प्राप्त किया था। इसी प्रकार, CITU से संबद्ध (जुड़ी हुई) होने के कारण कुछ संघो ने पश्चिमी बंगाल में कुछ लाभों का फायदा लिया क्योंकि उनका शासन करने वाले वाम पंथ से नजदीकी संबंध था।

11.4.4 श्रमिक संगठन के दोष

हालाँकि, कुछ विशिष्ट बाधाएँ है जो संगठित श्रमिकों की एकता को नष्ट करती है। अजीबोगरीब कानूनी और राजनीतिक कारकों द्वारा निर्मित विखण्डन के अलावा, आसानी से

उपलब्ध वैकल्पिक श्रम की समस्या भी है, जो बेरोजगारी लगता है। असंगठित श्रम की उपस्थिति के साथ यह एक मजबूत श्रमिक आंदोलन के उदय को रोकते हुए प्रतीत होता है। इस परिस्थिति में प्रबंधन संगठित श्रम पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए कुछ रणनीतियाँ तैयार कर लेता है। पहली है अनुबंधित मजदूरों/कर्मचारियों को काम पर रखना और दूसरी है कुछ वस्तुओं के उत्पादन को बंद कर देना और इन उत्पादों को असंगठित छोटे क्षेत्र से उनका निर्माण उप-औपबंधिक तरीके द्वारा कराकर प्राप्त करना। और तीसरी रणनीति है स्थायी वेतनभोगी बल के लिए संघ प्रबंधन संवर्ग के विकल्प को बढ़ाना। इसके अतिरिक्त, जब से सेवा क्षेत्र अत्यंत बट गया है, तब से सफेदपोश बल में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इससे उनकी भूमि का धारणाओं में तीव्र अंतर आया है और सफेदपोश संघवाद को अलग किया है।

भारत में श्रमिक आंदोलन संघकृत श्रम समस्या के प्रबंधन में हेरफेर के लिए एक समुचित प्रतिक्रिया तैयार करने की प्रक्रिया में है। बाहरी पेशेवर नेतृत्व से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न होती नही लगती है क्योंकि इसकी चिंता श्रमिकों के लिए मौद्रिक (आर्थिक) लाभों से परे नहीं है। हालाँकि, एक नए व्यापार संघ अभिविन्यास (नीति) और नेतृत्व को पैदा करने के लिए कार्य स्थल की स्थिति के बारे में जमीनी स्तर पर एक जागरूकता उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार, यह प्रतीत होता है कि हालांकि भारतीय श्रमिक आंदोलनों का लम्बा इतिहास है, फिर भी एक स्पष्ट श्रमिक वर्ग विचारधारा और वर्ग एकता की अनुपस्थिति में प्रबंधन की शक्ति से मेलखाने के लिए आंदोलन में पर्याप्त शक्ति का अभाव है। आंदोलन सांस्कृतिक और दल-प्रणाली दोनो रुप से भारी विखण्डन से ग्रस्त है। इसके अलावा, गंभीर कार्यस्थल समस्याओं के लिए बाहरी पेशेवर नेतृत्व ओर से दिलचस्पी की अप्रत्यक्ष अनुपस्थिति और आवश्यक पथ के साथ श्रमिकों को गतिशील करने में उनकी विफलता, आंदोलन को कमजोर करने का प्रभाव रखती है। साथ ही, भारतीय राज्य ने भी कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभाई है। व्यापार हितों और संघ माँगों के मध्य मध्यस्था के लिए कोई मजबूत वैद्यानिक समर्थन नहीं है, ना ही कोई प्रभावी राज्य हस्तक्षेप उन्मुख है।

बोध प्रश्न 3

i) भारतीय श्रमिक आंदोलन की चार मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भारतीय संगठनों के चार दोषों को बताइए।

अ) .....

ब) .....

स) .....

द) .....

iii) भारत में श्रमिक संगठनों के चार महत्वपूर्ण दोषों को बताइए।

अ) .....

ब) .....

स) .....

द) .....

11.5 श्रमिक वर्ग आंदोलन के समक्ष मुद्दे

अब तक की चर्चा मुख्यतः संगठित क्षेत्र में श्रम/श्रमिकों पर केन्द्रित थी। हालाँकि, श्रमिक जनसंख्या का एक बड़ा भाग भारत में असंगठित क्षेत्र में कार्यरत है। यह क्षेत्र श्रमिकों की बहुजातीयता का संयोजन है और यह विस्तारित होता जा रहा है। इस क्षेत्र में श्रमिकों का समस्याएँ विविध है और व्यापार संघों की निकट अनुपस्थिति के कारण और अधिक बढ़ जाती है। यह इस क्षेत्र में श्रमिकों की 'दृश्यता' को कम कर देती है क्योंकि वे एक सामूहिकता के रुप में अपनी समस्याओं को स्पष्ट बोलने में असमर्थ होते है।

ज्यादातर बड़े व्यापार संघों की असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों को संगठित करने में रूचि नहीं दिखायी देती है। दवाला का अध्ययन (1995: 7-8) दर्शाता है कि असंगठित क्षेत्र में श्रमिक ज्यादातर राष्ट्रीय व्यापार संघ केन्द्रों की कुल सदस्यता का एक प्रतिशत से भी कम भाग निर्मित करते है। इसके परिणामस्वरूप, असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों के प्रतिनिधियों को विरले ही योजना आयोग, ILC और अन्य जैसी राष्ट्रीय नीति निर्माण निकायो के लिए बुलाया जाता है और उनके हितों पर भी ध्यान नही दिया जाता है। इस समस्या को दूर करने के लिए, असंगठित क्षेत्र में कुछ बड़े संघों जैसे कि SEWA, इण्डियन फेडरेशन ऑफ कन्स्ट्रकसन लेबर, नेशनल फोरस ऑफ फिशवर्कर्स, सर्व श्रमिक संघ और कुछ वनों और कृषि मजदूरों के संघों ने साथ मिलकर दूसरे राष्ट्रीय केन्द्र का निर्माण किया। इस प्रकार राष्ट्रीय श्रम केन्द्र का निर्माण 1 मई, 1995 को हुआ। हालाँकि केन्द्र की सामूहिक सदस्यता कुछ स्वीकृत (जाने-पहचाने) राष्ट्रीय महासंघों से अधिक है, इसे ILC में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाना बाकी है।

साथ ही असंगठित क्षेत्र में रोजगाार बढ़ रहा है जबकि बड़े व्यवसाय (कम्पनी) के द्वारा अपनाई गयी कुछ रणनीतियों के परिणामस्वरूप संगठित क्षेत्र में रोजगार की गिरावट हो रही है। पहली रणनीति, नयी प्रौद्योगिकी द्वारा श्रम को विस्थापित करना है। दूसरी रणनीति, इनमें से अधिकांश कम्पनियाँ (व्यवसाय) लागत को बचाने के लिए घरेलू प्रणाली (Domestic System/Putting Out' System) का उपयोग करती है। इस व्यवस्था की वृद्धि के लिए शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि यह बड़े पैमाने के क्षेत्र को श्रम प्रक्रिया के ऊपर अधिक नियंत्रण प्रदान करता है। अपने खुद के कारखानों में सम्पूर्ण उत्पाद को बनाने के बजाय, ये कम्पनियाँ असंगठित क्षेत्र में छोटी उत्पादक इकाईयों को उत्पाद के निर्माण के लिए ठेका देने को प्राथमिकता देती है। हीथर और जोशी (1976) ने मुम्बई में प्रवासी श्रमिक पर अपने शुरुआती अध्ययन में इस पहलू को संबोधित किया है। होल्मस्ट्रम (1985) ने बाद में दोनों क्षेत्रों के मध्य संबंध का अधिक गहन विश्लेषण किया। उन्होंने इसको वृहत-पैमाना क्षेत्र और लघु-पैमाना क्षेत्र के बीच श्रम के प्रशंसात्मक/सम्मानजनक विभाजन के रुप में देखा है और लघु-पैमाना क्षेत्र संगठित क्षेत्र में अपना बाजार प्राप्त कर सकते है (होल्मस्ट्रॉम, 1985 : 13-25)। क्योंकि लघु-पैमाना क्षेत्र (उद्योग) में उत्पादन की लागत कम है इसलिए

बड़ी कम्पनियाँ उत्पादों को सस्ते में खरीदने में समर्थ होते है। छोटे उद्यमों में श्रम उत्पादकता कम है, परन्तु मजदूरी का स्तर कम होने के कारण कीमतें घट जाती है।

कम कीमतों के अलावा, बड़े निर्माताओं का असंगठित क्षेत्र की ओर आकार्षण इस क्षेत्र में श्रम लचीलेपन के कारण है। इस क्षेत्र में कार्य अवधि, रोजगाार की सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा से संबंधित मुश्किल से ही कोई प्रावधान है। इस प्रकार श्रमिक अव्यवस्थित समय और बहुत कम मजदूरी पर अधिक घंटो के लिए कार्य करते है। इसके अतिरिक्त नियोक्ता (मालिक) की इच्छा पर दनको काम से हटाया जा सकता है और नियोक्ता की इच्छा पर ही उत्पादन इकाई को भी बंद किया जा सकता है। संगठित क्षेत्र में यह संभव नही है क्योंकि कानूनी नियंत्रण और व्यापार संघ नियोक्ता को मनमाने ढंग से व्यवहार करने से रोकती है। इस प्रकार असंगठित क्षेत्र में उत्पादन करके नियोक्ताओं को इन बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे शब्दों में, वे सरकार, श्रमिकों और उनके व्यापार संघों के कम नियंत्रण का सामना करना पड़ता है। इस तरह से वे, वास्तव में, श्रम प्रक्रिया पर अधिक नियंत्रण रखते है क्योंकि वे असंगठित क्षेत्र द्वारा अपने उत्पादों का निर्माण अपने स्वयं के नियम और शर्तो पर करा सकते है।

गृह-आधारित काम, जो असंगठित क्षेत्र में अन्य महत्वपूर्ण क्रिया है, में काफी ज्यादा लचीलापन सम्मिलित है। यह क्षेत्र श्रम ठेकेदारों के माध्यम से मद (वस्तु) दर पर काम कर रहे श्रमिकों को शामिल करता है। इस श्रम शक्ति का एक बड़ा भाग औरतों को शामिल करता है यानि उनसे बना है। सामान्यतः पारिश्रमिक बहुत कम है और अक्सर लाभ बढ़ाने के लिए श्रम शक्ति में अक्सर बच्चों को शामिल किया जाता है। कार्य या मजदूरी को नियंत्रित करने के लिए व्यवहारिक रुप से कोई कानून नहीं है और, वास्तव में, इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के सही संख्या का भी नही पता है क्योंकि, ज्यादातर मामलों में, वे श्रमिकों के रुप में भी नहीं पहचाने जाते है।

वैश्वीकरण के कारण अर्थव्यवस्था में उदारीकरण ने घरेलू प्रणाली/उद्योग को बढ़ावा दिया है क्योंकि अब जोर विश्व बाजार के लिए सस्ते में उत्पादन करने पर है। देश में बड़े उद्योगों और व्यापार प्रेस के सामान्य खंडन है कि संगठित क्षेत्र के श्रमिकों का अति-उत्पादन उत्पादकता में वृद्धि के लिए सबसे बड़ी बाधा है। जुलाई 1991 में नई औद्योगिक नीति की घोषणा के तुरन्त बाद, नियोक्ताओं की सभी समीतियों ने एक निकास नीति के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया जिसके द्वारा उद्योगों को बंद करना आसान होगा। व्यापार संघों के विरोध के कारण सरकार ने अब तक इस नीति को शुरू नही किया, परन्तु श्रमिकों को निकालने के लिए परिस्थितियों को बहुत आसान कर दिया। ठीक इसी समय पर यह देखा गया कि 1991 में उदारीकरण नीति की शुरुआत ने एक लचीली और असुरक्षित श्रम शक्ति नहीं बनाई। यह पहले से ही अस्तित्व में थी और उदारीकरण ने इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है।

हालाँकि यह परिवर्तन एक ठीक ठाक तीव्र गति से घटित हो रहे है, संगठित क्षेत्र में व्यापार संघ इनका प्रभावपूर्ण जवाब अब तक नही दे पाए है। सरकार की औद्योगिक नीति वक्तव्य (स्टेटमैंट), 1991 के लिए व्यापार संघों की प्रतिक्रिया बहुत पारम्परिक रही है। उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया अपने पारम्परिक साधनों के द्वारा दी जैसे एक राष्ट्रीय हड़ताल का आयोजन करना, कुछ प्रदर्शनों और बैठकों का आयोजन करना जहाँ पर नेता उत्साह से भरपूर जोशीले भाषण देते थे। इन सबका मुश्किल से ही नीतियों के परिवर्तन पर कोई प्रभाव होता था। वास्तव में, उदारीकरण की गति में इन विरोधों के बावजूद तेजी आई है।

व्यापार संघों की एक मुख्य समस्या यह है कि वे संगठित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्रों के लिए अपनी सदस्यता का विस्तार करने में असमर्थ या अनिच्छुक है। उदाहरण के लिए, संगठित क्षेत्र के अंदर अस्थायी और ठेका श्रमिकों से निर्मित एक असंगठित क्षेत्र है जो कानूनी ढांचे द्वारा संरक्षित नहीं है। दवाला (1992) का आठ उद्योगों में श्रम का अनौपचारिकरण (नियमित श्रमिकों की अल्पकालिक पुनर्नियुक्ति) का अध्ययन दर्शाता है कि, बहुत सी बड़ी औद्योगिक इकाईयों में, अनियमित (अस्थायी) और ठेका श्रमिकों की संख्या स्थायी श्रमिकों ज्यादा हो गयी है। यद्यपि, ज्यादातर मामलों में, ये श्रमिक संगठित नही थे। वास्तव में, कुछ इकाईयों में, संघ इन श्रमिकों को संदेह और राजनीतिक बाध की तरह देखती है क्योंकि प्रबंधन उनको आसानी से बहला-फुसला सकता है और उनके द्वारा प्रतिवाद (विरोध) कार्य रूकता है। इन श्रमिकों को व्यापार संघ में लाया गया ताकि प्रबंधन उन्हें अपने पक्ष में हेरफेर करने में सक्षम नही होगा। उनकी मजूदरी (वेतन) और कार्य दशाओं में सुधार होगा और संघ श्रम शक्ति को कम करने के लिए प्रबंधन की रणनीतियों के विरोध में मजबूत होकर उभर जायेगा।

लघु-पैमाना उद्योगों में भी स्थिति समान ही है। अगर इन श्रमिकों को उद्योग में संघों द्वारा संघबद्ध किया गया था, श्रमिकों के दोनों भागों की सौदेबांजी की शक्ति में सुधार हुआ होगा। सभी श्रमिकों के बीच एक सामान्य कारण होता है और लघु-पैमाना क्षेत्र में श्रमिक अपनी कार्य दशाओं में सुधार कर सकता है।

दुर्भाग्य से, संगठित क्षेत्र से बाहर श्रमिकों को संगठित करने के बजाय, व्यापार संघ अधिक अंतर्मुख हो गयी हैं। श्रमिकों के दूसरे खण्ड़ो के लिए कोई चिंता बिना व्यापार संघों की मुख्य चिंता अपने स्वयं के सदस्यों के लिए ज्यादा से ज्यादा पाने में निहित है। कोई यह तर्क दे सकता है कि व्यापार संघ प्राथमिक रुप से अपने स्वयं के सदस्यों के लिए जिम्मेदार हैं और यह उम्मीद करना गलत होगा कि वे उन मुद्दो को उठाएंगे जो उनके सदस्यों को प्रभावित नही करते है। हालाँकि, वर्तमान परिस्थितियों के अंतर्गत, असंगठित क्षेत्र मे श्रमिकों की अनदेखी संगठित क्षेत्र में श्रमिकों के लाभों को आगे चलकर नष्ट कर सकता है। दोनों क्षेत्र, जैसा पहले बताया गया है, दोनों एक दूसरे से संबंधित है और नियोक्ता (मालिक) अपने फायदे के लिए इन क्षेत्रों में हेरफेर करते है, ताकि श्रम प्रक्रिया पर अपना नियंत्रण बढ़ा सके। इस प्रकार, असंगठित क्षेत्र में संधीकरण के द्वारा श्रमिकों के हितों की रक्षा करना दोनों क्षेत्रों को लाभ प्रदान करेगाा।

केन्द्रीय व्यापार संघों को इस तरह से चीजें नही दिखती हैं। वे असंगठित क्षेत्र में मुश्किल से ही श्रमिकों के मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करते है। उदाहरण के लिए, 24-25 अक्टूबर, 1996 को आयोजित हुई ILC में, राष्ट्रीय केन्द्रों द्वारा उठाया गया मुख्य मुद्दा बोनस (अधिलाभ) की सीमा बढ़ाने के लिए था। दो-दिवसीय सम्मेलन में यह मुद्दा पूरे एक दिन तक चर्चा में रहा। हालाँकि यह मुद्दा वैद्य था परन्तु यह कुल श्रमिकों के पाँच प्रतिशत से भी कम श्रमिकों से संबंधित था। एक ऐसा मुद्दा जिस पर सम्मेलन पर चर्चा की जा सकती थी वह गृह-आधारित श्रमिकों पर ILO समझौता था। सरकारों और व्यापार संघो के बीच प्रचुर पैरवी के बाद, अगस्त 1996 में गृह-आधारित श्रमिकों पर ILO के सामान्य निकाय ने एक समझौता मंजूर किया जिसमें गृह-आधारित श्रमिकों के रजिस्टर को बनाए रखने के लिए प्रावधान, उन्हें संघ बनाने का अधिकार देना, सामाजिक सुरक्षा के लिए प्रावधान, न्यूनतम मजदूरी थे। समझौते के इन प्रावधानों को विभिन्न देशों की कानूनी व्यवस्था में सम्मिलित करने की जरूरत है और व्यापर संघों द्वारा इसको ILC में उठाया जा सकता

था। वास्तव में, व्यापार संघों का वर्तमान दृष्टिकोण उदारीकरण की प्रक्रिया में सहायता करता है जैसा कि वे श्रमिक वर्ग को विभाजित करते है।

11.6 सारांश

इस इकाई में, हमने भारत में शहरी श्रमिक वर्ग के उदय पर चर्चा के साथ शुरुआत की थी। इसमें, हमने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति के प्रभाव की चर्चा की, जिसके कारण पारम्परिक ग्रामीण शिल्पों और घरेलू उद्योगों का विनाश और बेरोजगार ग्रामीण लोगों का शहरी क्षेत्रों में प्रवास हुआ। हमनें भारत में शहरी श्रमिक वर्ग के उदय की प्रक्रिया में औद्योगीकरण और शहरीकरण की भूमिका पर भी चर्चा की है। शहरी व्यवसायिक संरचना में परिवर्तन और शहरी श्रमिक वर्ग के मुख्य विशेषताओं पर भी इस इकाई में चर्चा की गयी है। श्रमिक आंदोलन शहरी श्रमिक वर्ग का एक महत्वपूर्ण पहलू है। भारत में शहरी श्रम आंदोलन पर एक आपको विस्तृत दृष्टिकोण देने के लिए हमनें औद्योगिक श्रम आंदोलन की वृद्धि और विशेषताओं पर भी चर्चा की थी।

11.7 संदर्भ

Sen, S. 1979. *Working Class of India: History of Emergence and Movement 1830-1970,* Calcutta: K.P.Babchi and Co.

Ramaswamy, E.A. & U. Ramaswamy. 1981. *Industry and Labour: An Introduction,* Delhi : Oxford University Press.

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अंग्रजों ने भारत में मुक्त व्यापार नीति प्रारम्भ की। भारतीय बाजार को ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए खोल दिया गया जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश निर्यात भारत में तेजी से बढ़ गया। हालाँकि, वे इग्लैण्ड में भारतीय कपड़ा मिल से आयातित वस्तुओं पर भारी कर लगाते थे।

ii) औपनिवेशिक काल में ग्रामीण भारत के पारम्परिक उद्योग नष्ट हो गये थे। जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण कारीगर और शिल्पकार अपने रोजगार के पारम्परिक मार्गो/स्त्रोत्रों से विस्थापित हो गए थे। इन विस्थापित श्रमिकों का एक भाग शहरी क्षेत्रों में बस गया और शहरी श्रम शक्ति में शामिल हो गया।

बोध प्रश्न 2

i) अ

ii) अ

iii) द

बोध प्रश्न 3

i) एक श्रमिक आंदोलन उनके हितों की उन्नति की दिशा में वेतन अर्जकों का एक संगठित प्रयास है। इसका उद्देश्य श्रमिक वर्ग लोगों के सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा करना है।

ii) अ) भारतीय श्रमिक संघ का संकीर्ण परिचालन आधार है।

ब) यह देश के बड़े शहरों तक सीमित है।

स) इसमें चेतन वर्ग अभिविन्यास का अभाव है।

द) श्रमिक आंदोलन का राजनीतिक दलों के साथ गहरा संबंध है।

iii) अ) राजनीतिक कारकों द्वारा निर्मित विखण्डन

ब) वैकल्पिक श्रम शक्ति बढ़ रही बेरोजगारी से अधिक

स) असंगठित क्षेत्र की उपस्थिति

द) बाहरी पेशेवर नेताओं की उपस्थिति

शब्दावली

प्राथमिक क्षेत्र : अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र में कृषि, पशु, वानिकी, मछली पकड़ना, शिकार और बागान सम्मिलित है।

द्वितीयक क्षेत्र : अर्थव्यवस्था के द्वितीय क्षेत्र में खनन और उत्खनन, घरेलू उद्योग , घरेलू उद्योगों के अलावा उद्योग और निर्माण सम्मिलित है।

तृतीयक क्षेत्र : अर्थव्यवस्था का यह क्षेत्र व्यापार और वाणिज्य, यातायात, भंडार और संचार और दूसरी सेवाओं को सम्मिलित करता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Sen, S. 1979. *Working Class of India: History of Emergence and Movement 1830-1970,* Calcutta: K.P.Babchi and Co.

Ramaswamy, E.A. & U. Ramaswamy. 1981. *Industry and Labour: An Introduction,* Delhi : Oxford University Press.

SinghaRay D.K.2013 'social Movements in India' in Snow, D, della, D.el at leads. The Willey- Blackwell Encyclepedia of social and political Movements. New Jersey.

Bhowmik, S. 2010 Labour Movements in India: Present Problems and Future Perespeatives. In SinghaRay D. k. (ed) Discenting voices and Transformative Action: Social Movement in a globalizing World. Manohar Publications: New Delhi

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY